वर्ष ४३ अंक ६
जून २००५
मूल्य रु. ६.००
विवेक-ज्योति
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)
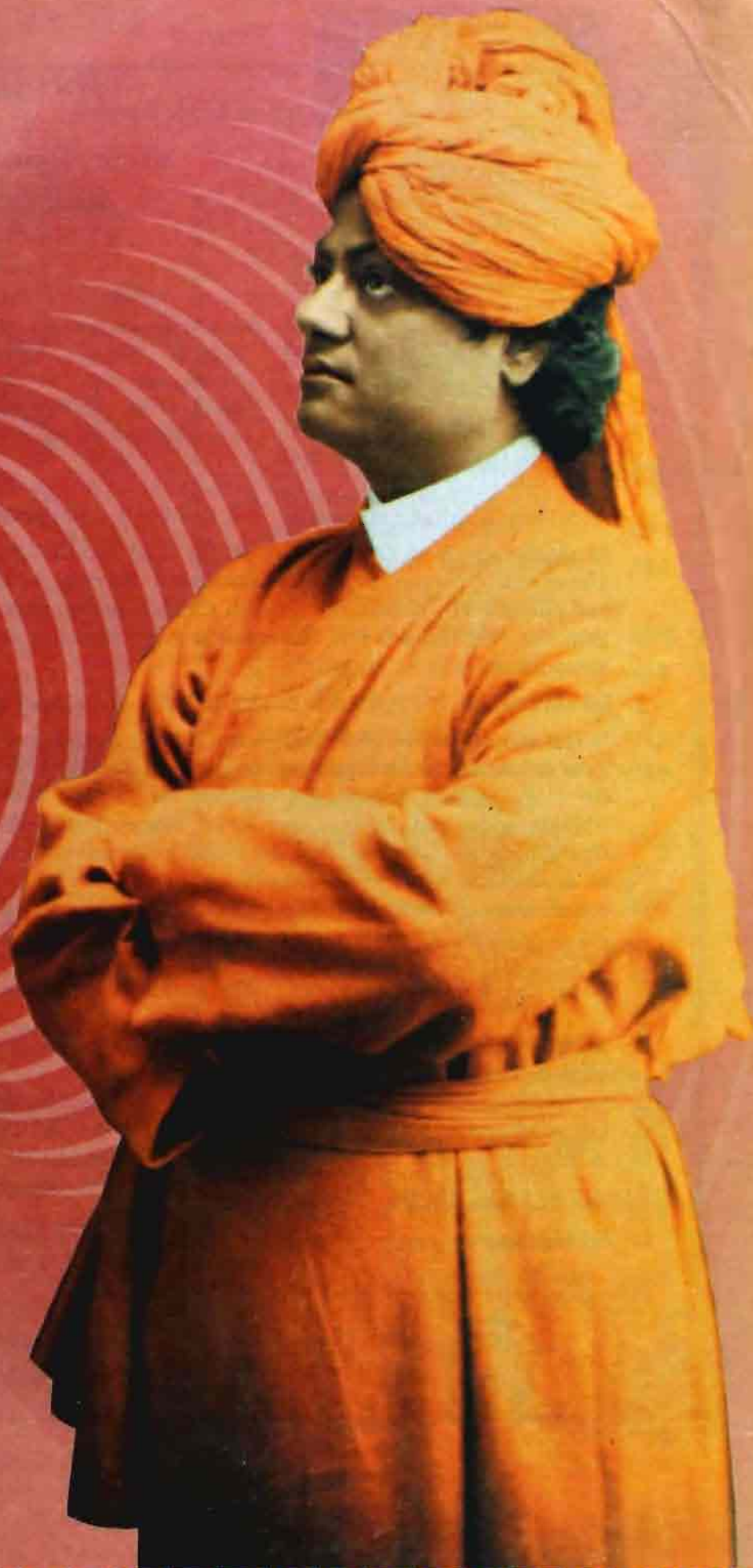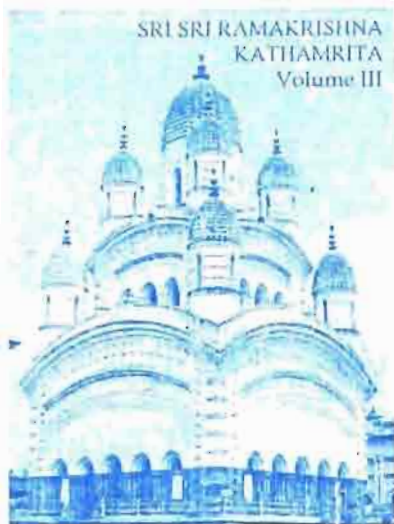
JUST RELEASED

VOLUME III
of
Sri Sri Ramakrishna Kathamrita

in English

A verbatim translation of the third volume of original Bengali edition. Available as hardbound copy at *Rs. 150.00 each* (plus postage Rs. 30.00). Available online at: *www.kathamrita.org*

HINDI SECTION

- Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Vol. I to V Rs. 300 per set (plus postage Rs. 50)

  M. (Mahendra Nath Gupta), a son of the Lord and disciple, elaborated his diaries in five parts of 'Sri Sri Ramakrishna Kathamrita' in Bengali that were first published by Kathamrita Bhawan, Calcutta in the years 1902, 1905, 1908, 1910 and 1932 respectively. This series is a verbatim translation in Hindi of the same.

- Sri Ma Darshan Vol. I to XVI Rs. 825 per set (plus postage Rs. 115)

  In this series of sixteen volumes Swami Nityatmananda brings the reader in close touch with the life and teachings of the Ramakrishna family: Thakur, the Holy Mother, Swami Vivekananda, M., Swami Shivananda, Swami Abhedananda and others. The series brings forth elucidation of the Upanishads, the Gita, the Bible, the Holy Quran and other scriptures, by M., in accordance with Sri Ramakrishna's line of thought. This work is a commentary on the Gospel of Sri Ramakrishna by Gospel's author himself.

ENGLISH SECTION

- Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Vol. I to III Rs. 450.00 for all three volumes (plus postage Rs. 60)
- M., the Apostle & the Evangelist Vol. I to X Rs. 900.00 per set (plus postage Rs. 100)
  (English version of Sri Ma Darshan)
- Sri Sri RK Kathamrita Centenary Memorial Rs. 100.00 (plus postage Rs. 35)
- Life of M. and Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Rs. 150.00 (plus postage Rs. 35)
- A Short Life of M. Rs. 50.00 (plus postage Rs. 20)

BENGALI SECTION

- Sri Ma Darshan Vol. I to XVI Rs. 650 per set (plus postage Rs. 115)

All enquiries and payments should be made to:

SRI MA TRUST
579, Sector 18-B, Chandigarh – 160 018 India
Phone: 91-172-272 44 60
email: SriMaTrust@yahoo.com

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जून २००५

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४३
अंक ६

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

(सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन, रायपुर' छत्तीसगढ़ - के नाम से ही बनवायें)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष: २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज महासमाधि में लीन

यह सूचित करते हुए हमें अतीव दु:ख हो रहा है कि रामकृष्ण संघ के १३वें महाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज ने ९६ वर्ष की आयु में महासमाधि ग्रहण कर ली है। विगत १७ अप्रैल को उन्हें फुफ्फुस की चिकित्सा हेतु कोलकाता के वुडलैंड मेडिकल सेंटर में भर्ती कराया गया था। वहीं २५ अप्रैल को अपराह्न में ३.५१ बजे उन्होंने अन्तिम सांस ली। इसके बाद उनकी पूत काया अन्तिम दर्शन हेतु बेलूड़ मठ में रखी गयी। अगले दिन अपराह्न में ४.३० बजे उनकी अन्तिम क्रिया सम्पन्न हुई। इस दौरान लाखों दर्शनार्थियों ने मठ में आकर उन्हें अपनी प्रणामांजलि अर्पित की।

महाराज का जन्म केरल राज्य के तिरुकुर नामक ग्राम में १५ दिसम्बर, १९०८ को हुआ था। १८ वर्ष की अल्पायु में ही, १९२६ ई. में उन्होंने रामकृष्ण संघ के मैसूर केन्द्र में प्रवेश लिया। श्रीरामकृष्ण के पार्षद तथा रामकृष्ण संघ के द्वितीय महाध्यक्ष स्वामी शिवानन्दजी महाराज से उन्होंने मंत्र-दीक्षा प्राप्त की और १९३३ ई. में उन्हीं से महाराज को विधिवत संन्यास-दीक्षा भी मिली थी। उन्होंने संघ के मैसूर तथा बंगलोर केन्द्रों में रहते हुए १२ वर्षों तक सेवा प्रदान किया। १९३९ से १९४२ तक वे रंगून (म्यामार) में स्थित रामकृष्ण मिशन समिति के सचिव रहे, तदुपरान्त १९४२ से १९४८ तक उन्होंने रामकृष्ण मठ तथा मिशन, कराची (अब पाकिस्तान में) के प्रमुख का उत्तरदायित्व निभाया। १९४९ से १९६२ तक वे मिशन के नई दिल्ली केन्द्र के और १९६२ से १९६७ तक कोलकाता स्थित 'इन्स्टीच्यूट ऑफ कल्चर' (संस्कृति-संस्थान) के सचिव रहे। १९७३ से जनवरी १९९३ तक वे रामकृष्ण मठ, हैदराबाद के अध्यक्ष थे।

१९६१ ई. में उन्हें रामकृष्ण मठ का एक ट्रस्टी तथा रामकृष्ण मिशन की संचालन-समिति का सदस्य निर्वाचित किया गया। १ अप्रैल १९८९ से वे संघ के उपाध्यक्ष बने और ७ सितम्बर १९९८ से उन्होंने संघ के महाध्यक्ष का उत्तरदायित्व सँभाला था।

१९४६ से १९७२ के दौरान उन्होंने उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका, एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप के लगभग ५० देशों की व्यापक व्याख्यान-यात्राएँ कीं, जिनमें रूस, पोलैण्ड तथा चेकोस्लोवाकिया भी शामिल हैं। वेदान्त के प्रचार-प्रसार हेतु वे १९७३ से १९८६ के दौरान प्रतिवर्ष आस्ट्रेलिया, अमेरिका, हॉलेण्ड तथा जर्मनी की यात्रा करते रहे। वे एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-सम्पन्न वक्ता थे, जिनके भावोत्तेजक व्याख्यानों से भारत तथा विदेशों के हजारों-लाखों लोग मुग्ध हुए हैं। उनके व्याख्यान अनेक पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हुए हैं, जिनमें प्रमुख हैं – The Message of Upanishads (उपनिषदों का सन्देश), Eternal values for a Changing Society (परिवर्तनशील समाज के लिए सनातन आदर्श) (चार भागों में) . I. Philosophy and Spirituality (दर्शन तथा आध्यात्मिकता), II. Great Spiritual Teachers (महान् धर्माचार्य), III. Education for Human Excellence (मानवीय उत्कृष्टता हेतु शिक्षा), IV. Democracy for Total Human Fullfilment (मानवीय परिपूर्णता के लिए प्रजातंत्र), A Pilgrim looks at the World (एक तीर्थयात्री का विश्वदर्शन), Vedanta and the Future of Mankind (वेदान्त और मानवता का भविष्य) तथा Social Responsibilities of Public Administrators (जन-प्रशासकों का सामाजिक दायित्व)। उनके नवीनतम ग्रन्थों में प्रमुख हैं – तीन खण्डों में 'गीता का सार्वजनीन सन्देश' और 'बृहदारण्यक-उपनिषद्' (प्रवचन-माला)। इनके अतिरिक्त श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, वेदान्त, गीता तथा अन्य विषयों पर उनके बहुत-से ऑडियो-टेप तथा वीडियो-सीडी उपलब्ध हैं, जो काफी लोकप्रिय हैं। □
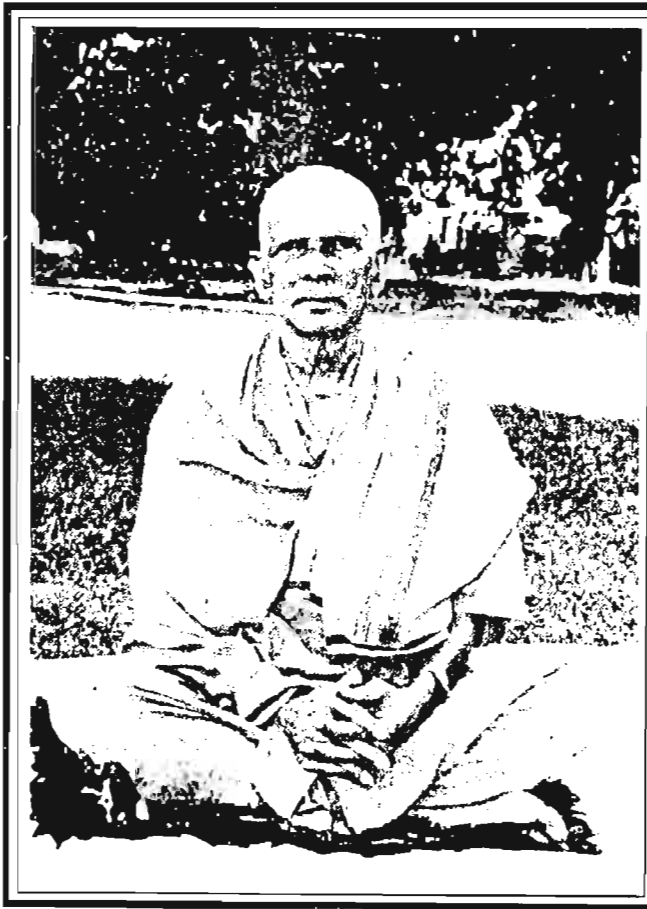
वैराग्य-शतकम्

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम् ।
शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ।।३१।।

अन्वय – भोगे रोग-भयम् कुले च्युति-भयम् वित्ते नृपालाद् भयम् माने दैन्य-भयम् बले रिपु-भयम् रूपे जराया भयम् । शास्त्रे वादि-भयम् गुणे खल-भयम् काये कृतान्ताद् भयम्, भुवि नृणां सर्वं वस्तु भय-अन्वितं वैराग्यम् एव अभयम् ।।

भावार्थ – विषयों के भोग में रोग का भय बना रहता है; उच्च कुल में आचार से भ्रष्ट होने का, धन-संचय में शासक द्वारा छीन लिए जाने का, अत्यधिक मान-सम्मान में अपमानित होने का, शौर्य-वीरता में शत्रु से हार जाने का, शारीरिक सौन्दर्य में बुढ़ापे का, शास्त्रों के पाण्डित्य में प्रतिवादी से पराजित होने का; विद्या-विनय-दान-धर्म आदि सद्गुणों में दुष्टों द्वारा निन्दा का और शरीर-धारण में यम अर्थात् मृत्यु से भय बना रहता है । इस प्रकार इस संसार में मनुष्यों के लिए सारी वस्तुएँ ही भय से परिपूर्ण हैं, एकमात्र वैराग्य ही अभय प्रदान करनेवाला है ।

आक्रान्तं मरणेन जन्म जरसा चात्युज्ज्वलं यौवनं
संतोषो धनलिप्सया शमसुखं प्रौढाङ्गनाविभ्रमैः ।
लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वनभुवो व्यालैर्नृपा दुर्जनै-
रस्थैर्येण विभूतयोऽप्युपहता ग्रस्तं न किं केन वा ।।३२।।

अन्वय – जन्म मरणेन आक्रान्तं, च अति-उज्ज्वलं यौवनं जरसा, संतोषः धन-लिप्सया, शम-सुखं प्रौढ-अङ्गना-विभ्रमैः, गुणाः मत्सरिभिः लोकैः, वन-भुवः व्यालैः, नृपाः दुर्जनैः विभूतयः, अपि अस्थैर्येण उपहता, किम् केन वा ग्रस्तं न ।

भावार्थ – जीवन को मृत्यु ने, अति शोभामय यौवन को बुढ़ापे ने, चित्त के सन्तोष को धनलिप्सा ने, संयम के सुख को प्रगल्भ नारियों के हाव-भाव ने, (विद्या-विनय आदि) गुणों को ईर्ष्यालु व्यक्तियों ने, वनस्थली को सर्पों ने, राजा को दुर्जन सभासदों ने और ऐश्वर्य को अस्थिरता ने ग्रस्त कर रखा है । इस जगत् में ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो किसी अन्य के द्वारा ग्रस्त न हो?

– भर्तृहरि

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(आसावरी या दरबारी-कान्हरा–कहरवा)

मर्त्यलोक में लीला करने, आए तुम धर मानव-काया।
फैल रही सुख-शान्ति जगत् में,
आशा-किरण सभी ने पाया ।।

सुन्दर सुखमय रूप तुम्हारा, सुमधुर वचनामृत की धारा।
नाम तुम्हारा स्वाद भरा है,
सब कुछ हमको अतिशय भाया ।।

फिर सत्युग का हुआ आगमन, हर्षित और प्रफुल्लित जन-मन।
दुखमय रजनी बीत चुकी है,
नभ में उषा किरण बिखराया ।।

धन्य हुए हम आश्रय पाकर, सतत तुम्हारी महिमा गाकर।
तव पावन शतदल चरणों में,
चिर 'विदेह'-मन-मधुप लुभाया ।।

– २ –

(भैरवी–कहरवा)

हे रामकृष्ण भगवान, मुझ पर दया करो।
तुम अस्ति-भाति-प्रिय धाम, मेरी व्यथा हरो ।।

दीनों पर दयावृष्टि करने,
अवतरण तुम्हारा इस जग में,
देकर निज स्नेहाशीष, मेरे प्राण भरो ।।

मैं भवसागर के बीच पड़ा,
हूँ आतंकित भयभीत ब्रड़ा,
अब सुन लो मेरी गुहार, आकर बाँह धरो ।।

यह जीवन लौह समान समल,
पारस मणि तव मृदु चरण कमल,
कर स्पर्शदान प्रभु आज, कंचन खरा करो ।।

मैं विषय-कीच में डूबा हूँ,
इस जड़ जीवन से ऊबा हूँ,
करके 'विदेह' उद्धार, चित में आ विचरो ।।

– *विदेह*

वर्तमान शिक्षा के दोष तथा उनका निवारण

स्वामी विवेकानन्द

(शिक्षा विषय पर अनेक मूल्यवान विचार स्वामीजी के सम्पूर्ण साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उन्हीं का बँगला भाषा में एक संकलन 'शिक्षा-प्रसंग' नाम से प्रकाशित हुआ है, जो कई दृष्टियों से बड़ा उपयोगी प्रतीत होता है। शिक्षकों तथा छात्रों – दोनों को ही उससे उक्त विषय में काफी नयी जानकारी मिल सकती है, यहाँ पर हम 'शिक्षा का आदर्श' शीर्षक के साथ क्रमश: उसी का प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

वर्तमान शिक्षा — नकारात्मक है

जो शिक्षा तुम अभी पा रहे हो, उसमें कुछ अच्छा अंश भी है और बुराइयाँ बहुत हैं। इसलिए ये बुराइयाँ उसके भले अंश को दबा देती हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि यह शिक्षा मनुष्य बनानेवाली नहीं कही जा सकती। यही शिक्षा केवल तथा पूर्णत: निषेधात्मक है। निषेधात्मक शिक्षा या निषेध की बुनियाद पर आधारित शिक्षा मृत्यु से भी अधिक भयानक है। कोमल मति बालक पाठशाला में भर्ती होता है और जो सबसे पहली बात, उसे सिखायी जाती है, वह यह कि तुम्हारा बाप मूर्ख है। दूसरी बात जो वह सीखता है, वह यह कि तुम्हारा दादा पागल हैं। तीसरी बात – कि तुम्हारे जितने शिक्षक और आचार्य हैं, वे सभी पाखण्डी हैं। और चौथी बात – कि तुम्हारे जितने पवित्र धर्म ग्रन्थ हैं, उनमें झूठी और कपोल-कल्पित बातें भरी हुई हैं! ऐसी निषेधात्मक बातें सीखते-सीखतें बालक जब सोलह वर्ष की आयु तक पहुँचता है, तब वह निषेधों की ढेर बन चुका होता है – उसमें न जान रहती है और न रीढ़। अत: इसका जैसा परिणाम होना चाहिये था, वैसा ही हुआ। पिछले पचास वर्षो से दी जानेवाली इस शिक्षा ने तीनों प्रान्तों में एक भी मौलिक विचारों का व्यक्ति पैदा नहीं किया, और जो मौलिक विचार के लोग हैं, उन्होंने यहाँ शिक्षा नहीं पायी है, विदेशों में पायी है, अथवा अपने भ्रममूलक कुसंस्कारों को दूर करने के लिए पुन: अपने पुराने शिक्षालयों में जाकर अध्ययन किया है। शिक्षा का मतलब यह नहीं है कि तुम्हारे दिमाग में ऐसी बहुत-सी बातें इस तरह ठूँस दी जायँ कि अन्तर्द्वन्द्ध होने लगे और तुम्हारा दिमाग उन्हें जीवन भर पचा ही न सके।[१२८] बचपन से हमारी शिक्षा ऐसी रही है। इसमें निषेध और नकार का ही प्राबल्य है। हमने यही सीखा है कि हम नगण्य हैं, नाचीज हैं। कभी भी हमें यह नहीं बताया गया कि हमारे देश में भी महान् लोगों का जन्म हुआ है। हमें एक भी तो अच्छी बात नहीं सिखायी जाती। हमें अपने हाथ-पैर का उपयोग तक तो नहीं आता![१२९]
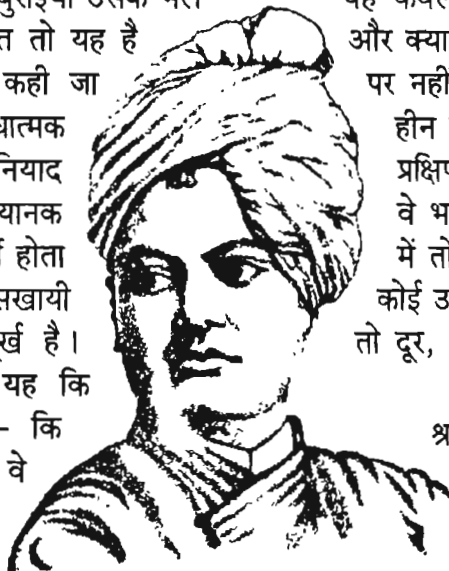
यह शिक्षा श्रद्धा-विश्वास से रहित है

आज के विश्वविद्यालय की शिक्षा में दोष-ही-दोष भरे हैं। यह केवल 'बाबू' पैदा करने की मशीन के सिवाय और क्या है। यदि इतना ही होता, तो भी ठीक था, पर नहीं – इस शिक्षा से लोग श्रद्धा और विश्वास हीन होते जा रहे हैं। वे कहते हैं कि गीता एक प्रक्षिप्त अंश है और वेद देहाती गीत मात्र हैं। वे भारत के बाहर के देशों तशा विषयों के बारे में तो हर बात जानना चाहते हैं, पर यदि उनसे कोई उनके पूर्वजों के नाम पूछे, तो सात पीढ़ी की तो दूर, तीन पीढ़ी तक नहीं बता सकते।[१३०]

इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि भाई, तुममें श्रद्धा नहीं है – आत्मविश्वास भी नहीं है। क्या होगा तुम लोगों से? न तुमसे गृहस्थी होगी, न धर्म। या तो उद्योग-धन्धे करके संसार में यशस्वी, सम्पत्ति-शाली बनो, नहीं तो सब कुछ छोड़-छाड़कर हमारे पथ का अनुसरण करते हुए देश-विदेश के लोगों को धर्म का उपदेश देकर उनका भला करो; तभी तो हमारी तरह भिक्षा पा सकोगे। लेन-देन हुए बिना कोई किसी की ओर देखता नहीं। देख तो रहे हो; हम धर्म की दो बातें सुनाते हैं, इसीलिए गृही लोग हमें अन्न के दो दाने दे रहे हैं। तुम लोग कुछ नहीं करोगे, तो लोग तुम्हें वह भी क्यों देंगे? नौकरी में – गुलामी में इतना दुख देखकर भी तुम लोग सचेत नहीं हो रहे हो! इसीलिए दुख भी दूर नहीं हो पा रहे हैं। यह अवश्य ही दैवी माया का खेल है।[१३१]

'अमुक ऋषि या महापुरुष ने ऐसा कहा है, अत: इस बात पर विश्वास करो' – ऐसी घोषणा करने के कारण ही यदि सभी धर्म उपहासास्पद हो जाते हों, तब तो आजकल के लोग और भी अधिक उपहासास्पद हैं। आजकल यदि कोई मूसा, बुद्ध या ईसा की उक्ति उद्धृत करता है, तो उसकी हँसी उड़ायी जाती है; लेकिन हक्सले, टिण्डल या डारविन का नाम लेते ही बात एकदम अकाट्य और प्रामाणिक बन जाती है! 'हक्सले ने ऐसा कहा है' – इतना कहना ही बहुतों के लिए पर्याप्त है! क्या हम सचमुच ही अन्धविश्वास से

मुक्त हैं ! पहले था धर्म का अन्धविश्वास, अब है विज्ञान का अन्धविश्वास; तो भी पहले के अन्धविश्वास में से एक जीवनप्रद आध्यात्मिक भाव आता था, पर आधुनिक अन्धविश्वास के भीतर से तो केवल काम और लोभ ही प्रकट हो रहे हैं ।[१३२]

यह जो इस देश की विश्वविद्यालय की शिक्षा है, इससे देश के अधिक-से-अधिक एक-दो प्रतिशत व्यक्ति ही लाभ उठा रहे हैं। जो लोग शिक्षा पा रहे हैं, वे भी देश के कल्याण के लिए कुछ नहीं कर पा रहे हैं। बेचारे करें भी तो कैसे? कॉलेज से निकलते ही देखते हैं कि वे सात बच्चों के बाप बन गये हैं, उस समय जैसे-तैसे किसी क्लर्की या डिप्टी मजिस्ट्रेट की नौकरी स्वीकार कर लेते हैं – बस यही है शिक्षा का फल ! उसके बाद गृहस्थी का बोझ उन्हें उच्च कर्म या चिन्तन का समय ही कहाँ देता है? जब अपना ही स्वार्थ सिद्ध नहीं होता, तो फिर वह दूसरों के लिए क्या करेगा?[१३३]

हमारे बच्चों को दी जानेवाली शिक्षा पूर्णत: निषेधात्मक है। स्कूलों में बच्चे कुछ सीखते नहीं, बल्कि अपना भी जो कुछ है, उसका नाश हो जाता है और इसका फल होता है – श्रद्धा-हीनता। जो श्रद्धा वेद-वेदान्त का मूलमंत्र है, जिस श्रद्धा ने नचिकेता को साक्षात् यम के पास जाकर प्रश्न करने का साहस दिया, जिस श्रद्धा के बल से संसार चल रहा है – उसी का लोप ! गीता कहती है – **अज्ञश्च अश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति** – अज्ञ, श्रद्धाहीन और संशयी व्यक्ति का नाश हो जाता है। इसीलिए हम मृत्यु के इतने समीप हैं ।[१३४]

उस देश (अमेरिका) में मैंने देखा, नौकरी करनेवालों का स्थान लोकसभा में बहुत पीछे होता है। पर जो लोग प्रयत्न करके विद्या-बुद्धि द्वारा सफल हुए हैं, उनके बैठने के लिए सामने की सीटें निर्धारित रहती हैं। उन देशों में जाति-भेद का झंझट नहीं है। उद्यम एवं परिश्रम से जिन पर भाग्य-लक्ष्मी प्रसन्न हो जाती हैं, वे ही देश के नेता और नियन्ता माने जाते हैं। और तुम्हारे देश में जाति-पाति का मिथ्याभिमान है, इसीलिए तुम्हें अन्न तक नसीब नहीं होता ।[१३५]

आवश्यकता है (१) आत्मनिर्भर करनेवाली तथा जीवन-समस्या का हल करनेवाली शिक्षा की

दूसरों की कुछ बातों के अनुवाद को रटकर, मस्तिष्क में भरकर, परीक्षा पास करके तुम सोच रहे हो – हम शिक्षित हो गये ! छी ! छी ! इसी को तुम शिक्षा कहते हो? तुम्हारी शिक्षा का उद्देश्य क्या है? एक क्लर्क या एक दुष्ट वकील बनना और बहुत हुआ तो क्लर्की का ही दूसरा रूप डिप्टी मजिस्ट्रेट की नौकरी – यही न? इससे तुम्हें या देश को क्या लाभ हुआ? एक बार आँखें खोलकर देखो – सोना पैदा करनेवाली इस भारत-भूमि में आज अन्न के लिए हाहाकार मचा है ! क्या तुम्हारी इस शिक्षा द्वारा उस अभाव की पूर्ति हो सकेगी? कभी नहीं। पाश्चात्य-विज्ञान की सहायता से जमीन खोदने में लग जाओ, अन्न की व्यवस्था करो – नौकरी करके नहीं – अपनी चेष्टा द्वारा पाश्चात्य विज्ञान की सहायता से नित्य नवीन उपायों का आविष्कार करके ! इसी अन्न-वस्त्र की व्यवस्था करने हेतु मैं लोगों को रजोगुण की वृद्धि करने का उपदेश देता हूँ। अन्न-वस्त्र की कमी और उसकी चिन्ता से देश की दुरवस्था हो रही है – इसके लिए तुम क्या कर रहे हो? फेंक दो अपने शास्त्र-वास्त्र गंगाजी में। पहले देश के लोगों को अन्न की व्यवस्था करने का उपाय सिखाओ। इसके बाद उन्हें भागवत सुनाना। कर्मठता के द्वारा जागतिक अभाव दूर हुए बिना कोई ध्यान देकर धर्म की कथा नहीं सुनेगा ।[१३६]

जिस शिक्षा के द्वारा हम अपना जीवन गढ़ सकें, मनुष्य बन सकें, चरित्र गठित कर सकें और विचारों का सामंजस्य कर सकें, वही वास्तव में शिक्षा कहलाने योग्य है। यदि तुम पाँच ही भावों को पचाकर तदनुसार जीवन और चरित्र बना सको, तो तुम्हारी शिक्षा उस आदमी की अपेक्षा बहुत अधिक है, जिसने पूरे ग्रन्थालय को ही कण्ठस्थ कर लिया है। कहा है – **यथा खरः चन्दन-भारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य** – "चन्दन की लकड़ियाँ ढोनेवाला गधा, उसके मूल्य को नहीं, केवल उसके बोझ को ही समझ सकता है।" यदि तरह-तरह की सूचनाएँ एकत्र करना ही शिक्षा हो, तब तो ये ग्रन्थालय ही विश्व के श्रेष्ठ ज्ञानी और विश्वकोश ही ऋषि हैं ।[१३७]

तुम्हारे इतिहास, साहित्य, पुराण आदि सभी शास्त्र व्यक्ति को केवल डराने का ही कार्य करते हैं। मनुष्य से केवल कह रहे हैं – "तू नरक में जायेगा, तेरी रक्षा का उपाय नहीं हैं।" इसलिए भारत की नस-नस में इतनी शिथिलता आ गयी है। अत: वेद-वेदान्त के उच्च भावों को सरल भाषा में लोगों को समझा देना होगा। सदाचार, सद्व्यवहार और शिक्षा का प्रचार करके ब्राह्मण और चाण्डाल को एक ही भूमि पर खड़ा करना होगा।[१३८] पहले तो ऐसी शिक्षा देनी होगी, जिससे सभी काम के आदमी बने, शरीर सबल हो। ऐसे केवल बारह नर-केसरी ही संसार पर विजय प्राप्त कर लेंगे, परन्तु लाखों भेड़ों के द्वारा यह नहीं होगा। और द्वितीयत: **किसी का व्यक्तिगत आदर्श चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, उसके अनुकरण की शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए** ।[१३९]

आवश्यकता (२) दूसरों के लिए तत्पर और जीवन के उद्देश्य के प्रति सचेत होने की

आज जरूरत है – अपने देश की विद्याओं के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान के शिक्षण की। उद्योग-धंधों की उन्नति के लिए हमें यांत्रिक शिक्षा भी प्राप्त करनी होगी, जिससे देश के युवक नौकरी ढूँढ़ने के बजाय कुछ

कमाकर अपनी जीविका चला सकें।[१४०] कुछ परीक्षाएँ पास करके उपाधियाँ प्राप्त करने या अच्छा भाषण दे सकने से ही तुम्हारी दृष्टि में शिक्षित हो जाता है! जो शिक्षा साधारण व्यक्ति को जीवन-संग्राम में समर्थ नहीं बना सकती, मनुष्य में चरित्र-बल, परहित की भावना तथा सिंह के समान साहस नहीं ला सकती, क्या वह भी कोई शिक्षा है? **जिस शिक्षा के द्वारा जीवन में अपने पैरों पर खड़ा हुआ जाता है, वही शिक्षा है।** ... वर्तमान शिक्षा से तुम्हारा सिर्फ बाह्य परिवर्तन होता जा रहा है – पर नयी-नयी कल्पना-शक्ति के अभाव में तुम लोगों को धन कमाने का उपाय उपलब्ध नहीं हो रहा है।[१४१] वस्तुओं का यंत्रों द्वारा उत्पादन – क्या यही उच्च शिक्षा है? उच्च शिक्षा का उद्देश्य है – मानव-जीवन के उद्देश्य को समझना, जीवन की समस्याओं को सुलझाना; और आज का सभ्य संसार उन्हीं पर गहन चिन्तन कर रहा है, परन्तु हमारे देश में हजारों वर्ष पूर्व ही ये गुत्थियाँ सुलझा ली गयी थीं।[१४२]

मेरी इच्छा है कि प्रतिवर्ष यथेष्ट संख्या में हमारे नवयुवक चीन और जापान जाएँ। जापानी लोगों के लिए आज भी भारतवर्ष उच्च तथा श्रेष्ठ वस्तुओं का स्वप्न-राज्य है।[१४३] देश भर के लोग आज अपने सोने को पीतल और दूसरों के पीतल को सोना मान बैठे हैं। यही है हमारी आधुनिक शिक्षा का जादू![१४४] मुझे लगता है कि इस देश के सभी बड़े तथा शिक्षित लोग यदि एक बार जापान घूम आयें, तो उनकी आँखें खुल जाएँगी। वहाँ हमारे यहाँ के समान विद्या की बदहजमी नहीं है। उन्होंने यूरोपवालों से सब लिया है, पर जापानी ही रहे, साहब नहीं बने। पर हमारे यहाँ तो साहब बनना एक तरह भयानक रोग फैल गया है।[१४५] पहले अपने पैरों पर खड़े हो जाओ, उसके बाद सभी राष्ट्रों से शिक्षा ग्रहण करो, जो कुछ सम्भव हो अपना लो; जो कुछ तुम्हारे काम का हो, उसे ग्रहण कर लो।[१४६]

आवश्यकता (३) सनातन प्रणाली का अवलम्बन

अपने देश की आध्यत्मिक तथा लौकिक – सभी प्रकार की शिक्षा का भार हमें अपने हाथों में लेना होगा और उस शिक्षा में भारतीय शिक्षा की सनातन धारा को बनाये रखना होगा और यथासम्भव राष्ट्रीय रीति से शिक्षा का विस्तार करना होगा।[१४७] शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक – सभी क्षेत्रों में व्यक्ति को सकारात्मक भाव देने होंगे, परन्तु घृणा के साथ नहीं। आपसी घृणा के कारण ही तुम लोगों का अध:पतन हुआ है। अब केवल सकारात्मक विचारों को फैलाकर लोगों को उठाना होगा – पहले हिन्दू जाति को, और उसके बाद सारी दुनिया को। यही श्रीरामकृष्ण के अवतीर्ण होने का उद्देश्य है। उन्होंने जगत् में किसी का भी भाव नष्ट नहीं किया। उन्होंने महापतित व्यक्ति को भी अभय और उत्साह देकर उठा लिया है। हमें भी उनके पदचिह्नों पर चलते हुए सबको उठाना होगा, जगाना होगा। समझे?[१४८]

सन्दर्भ-सूची –

१२८. विवेकानन्द साहित्य, (संस्करण १९८९) खण्ड ५, पृ. १९४-९५; **१२९**. वही, खण्ड ८, पृ. २६९; **१३०**. वही, खण्ड ८, पृ. २२७-२८; **१३१**. वही, खण्ड ६, पृ. १०५; **१३२**. वही, खण्ड २, पृ. ७; **१३३**. वही, खण्ड ६, पृ. १२८; **१३४**. वही, खण्ड ६, पृ. ३१२; **१३५**. वही, खण्ड ६, पृ. १०५-०६; **१३६**. वही, खण्ड ६, पृ. १५५-५६; **१३७**. वही, खण्ड ५, पृ. १९५; **१३८**. वही, खण्ड ६, पृ. ११३; **१३९**. वही, खण्ड ६, पृ. ११३, खण्ड १०, पृ. ३७२; **१४०**. वही, खण्ड ८, पृ. २३१; **१४१**. वही, खण्ड ६, पृ. १०६; **१४२**. वही, खण्ड ८, पृ. २३०; **१४३**. वही, खण्ड १, पृ. ३९८; **१४४**. वही, खण्ड ८, पृ. २३४-३५; **१४५**. वही, खण्ड ८, पृ. २३४; **१४६**. वही, खण्ड ५, पृ. ४८; **१४७**. वही, खण्ड ५, पृ. १९५; **१४८**. वही, खण्ड ६, पृ. ११३

है स्वागत तुम्हारा !

नारायणदास बरसैंया

प्यार तुम साकार हो, स्वागत तुम्हारा,
त्याग तुम साकार हो, स्वागत तुम्हारा ।।

दीन-सेवा, ईश-सेवा है तुम्हारी,
धर्म तुम साकार हो, स्वागत तुम्हारा ।।

ध्यान में परहित सदा रहता तुम्हारे,
ध्यान तुम साकार हो, स्वागत तुम्हारा ।।

ब्रह्म में तुम और तुममें ब्रह्म स्थित,
ब्रह्म तुम साकार हो, स्वागत तुम्हारा ।।

मानते हो तुम सभी प्राणी स्वजन हैं,
वेद तुम साकार हो, स्वागत तुम्हारा ।।

राम-से श्रीकृष्ण-से सद्गुरु तुम्हारे,
शिष्य तुम साकार हो, स्वागत तुम्हारा ।।

हे 'विवेकानन्द' हो तुम ज्ञान सागर,
ज्ञान तुम साकार हो, स्वागत तुम्हारा ।।

ईमानदारी का गुण

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

आज सर्वत्र हमें यह बात सुनने को मिलती है कि ईमानदारी एक गुण नहीं, बल्कि दुर्गुण है। लोग कहते हैं कि जो व्यक्ति ईमानदार होगा, वह जीवन में उन्नति नहीं कर सकता। इसके कई उदाहरण दिये जाते हैं। यदि व्यापारी या उद्योगपति ईमानदार होगा, तो उसका धन्धा बैठ जायेगा। यदि वह अपनी कमाई सच्चाई से बताता रहे, तो आयकर विभाग वाले उसकी लुटिया डुबो देंगे। यदि किसी साल उसे घाटा पड़ा, तो वे उसकी बात नहीं मानेंगे और अधिक आय वाले वर्ष के आधार पर ही घाटे वाले वर्ष में भी उसके आयकर का निर्धारण करेंगे। यदि मातहत कर्मचारी ईमानदार हुआ, तो वह अपने 'बॉस' को खुश नहीं कर सकेगा। चाहे शासन का कोई भी विभाग हो 'बॉस' को खुश करने की प्रक्रिया में मातहत अधिकारी को बेईमान बनना ही पड़ता है – यह बात आज हमें हर जगह सुनाई पड़ती है। इसलिए लोग कहने लगे हैं कि "Honesty does not pay" अर्थात् ईमानदारी से काम नहीं बनता। ईमानदार व्यक्ति को लोग outdated यानी पिछड़ा हुआ मानते हैं।

फिर दूसरे हैं, जो ईमानदारी को एक गुण तो मानते हैं, पर यह कहते हैं कि आज जब सब लोग बेईमान हैं, तब मैं अकेला ईमानदार बनकर क्या करूँगा? उनका तर्क है कि अकेला चना क्या भाड़ फोड़ेगा? वे महाभारत के एक वाक्यांश का उद्धरण देते हुए कहते है – **'शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्'** – अर्थात् दुष्ट के प्रति दुष्टता का ही व्यवहार करना चाहिए। यदि दूसरा व्यक्ति सरल और निष्कपट हो, तब तो उसके साथ सरलता और निष्कपटता से पेश आया जा सकता है, पर यदि दुष्ट हो, छली और कपटी हो, तब उसके सन्दर्भ में सरलता और निष्कपटता के व्यवहार का कोई मतलब नहीं।

अब ये दोनों तर्क वजनी मालूम होते हैं। मेरे एक सम्मान्य मित्र हैं। रविशकर विश्वविद्यालय के प्रथम कुलपति थे। उन्हें एक वर्ष अपनी पुस्तकों की रायल्टी मिली। स्वाभाविक ही आय अधिक हुई। वे ईमानदारी की प्रतिमूर्ति हैं। वे अपनी आय का एक नया पैसा तक हिसाब में लाने में भूल नहीं करते। पर आयकर विभाग वालों ने उस वर्ष की आय के आधार पर अन्य वर्षों की भी आय पकड़ ली और उन पर आयकर ठोक दिया। उन्होंने ऋण लेकर आयकर पटाया। यह बात दूसरी थी कि अधिक पटाया गया आयकर उन्हें बाद में लम्बे समय के बाद वापस कर दिया गया, पर उन्हें बहुत मानसिक और शारीरिक परेशानी हुई होगी, इस तथ्य से भला कौन इन्कार कर सकता है? उनके आयकर प्रकरण के सुलझने में इतना विलम्ब इसलिए लगा कि उन्होंने सम्बन्धित अधिकारियों को खुश करने से मना कर दिया।

यह घटना पूर्व में ईमानदारी के विपक्ष में कही गयी दोनों तर्कों को ही पुष्ट करती है।

प्रश्न उठता है कि ईमानदारी को तब जीवन में क्यों स्थान दिया जाय? इसलिए कि ईमानदारी ही मनुष्य के अस्तित्व का मूल आधार है, उसका धर्म है। जैसे अग्नि का धर्म ताप है और उसके नष्ट होने पर अग्नि का अग्नित्व ही नष्ट हो जायेगा, वैसे ही ईमान मनुष्य का धर्म है और उसके नष्ट होने से मनुष्यता ही नष्ट हो जायेगी। आज मानवता नाश के कगार की ओर इसीलिए जा रही है कि उसका ईमान टूट रहा है। हम यह दलील तो देते हैं कि ईमानदारी से काम नहीं बनता, पर अपने लिए व्यवहार में ईमानदारी चाहते हैं। यह हमारे जीवन की एक महती विडम्बना है। हम चाहते हैं कि हमें दुनिया से धोखाधड़ी करने की छूट मिलनी चाहिए, पर हम यह नहीं चाहते कि कोई हमसे धोखाधड़ी करे। हम दूसरों से बेईमानी का बर्ताव करने को जमाने की चाल मानते हैं, पर कोई अगर हमसे बेईमानी के बर्ताव करता है, तो नाखुश होते हैं। क्या हम चाहेंगे कि मेरा बेटा, मेरा पति, मेरा भाई, मेरा पिता, मेरा नौकर, मेरा मातहत कर्मचारी मेरे प्रति बेईमान हो? क्या हम पत्नी को हमारे अपने प्रति बेईमान होने की छूट दे सकते हैं? यदि हम ऐसा नहीं कर सकते, तो हमें कतई यह कहने का अधिकार नहीं है कि ईमानदारी से काम नहीं बनता। मनुष्य को अपनी यह दुरगी चाल बदलनी पड़ेगी। फिर यह जो दलील दी गयी कि अकेले हम ईमानदार बनकर क्या करेंगे, उसके उत्तर में कहना यह है कि यदि हम मानवता के हितैषी हैं, तो हमें अपने जीवन से ही ईमानदारी का पाठ शुरू करना होगा। अगरेजों की सल्तनत का विरोध अकेले महात्मा गाँधी ने ही शुरू किया। उनका दृष्टान्त हमें प्रेरणा प्रदान करता रहेगा। ❑❑❑

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (१/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

मनु की दीर्घकाल तक चलनेवाली इस साधना के बाद आकाशवाणी हुई। मनु से पूछा गया – आप क्या चाहते हैं? दोनों ने प्रभु से प्रार्थना की कि हम आपका दर्शन चाहते हैं, आँखें भरकर आपका रूप देखना चाहते हैं –

देखहिं हम सो रूप भरि लोचन ।
कृपा करहु प्रनतारति मोचन ।।
दंपति बचन परम प्रिय लागे ।
मृदुल बिनीत प्रेम रस पागे ।। १/१४५/६-७

उसके बाद भगवान सामने आ गये। किसी ने गोस्वामीजी से पूछा – कोई व्यक्ति कहे कि मैं कलकत्ते से आया, तो कहेंगे कि इतनी दूर से आए, इतने घण्टे में आए। शंकरजी से पूछा गया – महाराज, प्रभु का लोक कितना दूर था कि उन्हें वहाँ से आने में साठ हजार वर्ष लग गये? और तब बताया गया कि वासुदेव अर्थात् जो सर्वत्र निवास करे। वे कहीं से नहीं आए, वह लोक दूर नहीं था, वे तो वहीं थे –

भगत बछल प्रभु कृपा निधाना ।
बिस्व बास प्रगटे भगवाना ।। १/१४५/८

भगवान सचमुच वहीं थे। ईश्वर सर्वव्यापक हैं, पर उनका साक्षात्कार करने में साठ हजार वर्ष लग गये। निराश न हो जाइएगा। उस अंक को न पकड़ लीजिएगा। हमारी तो आयु ही साठ-सत्तर बरस है, साठ हजार वर्ष तक कैसे प्रतीक्षा करेंगे। प्रश्न यह नहीं है कि कितने क्षण में। मनु में उतनी साधना करने की शक्ति थी, सामर्थ्य थी तो उन्होंने किया।

अयोध्या के कुछ सन्तों को लगता है कि यह वासुदेव-मंत्र तो कृष्ण-मंत्र है। यह कैसे हो सकता है कि श्रीकृष्ण का मंत्र जपकर दर्शन श्रीराम का हो। वे कहते हैं कि षडक्षर राम-मंत्र – **श्री रामाय नमः** और षडक्षर सीता-मंत्र – **श्री सीतायै नमः**। हो गये बारह अक्षर। उन्हें इसमें एक तरह का आनन्द आता है। व्यक्ति जिस रंग में रँगकर देखता है, वस्तु उसी रंग की दिखाई देती है। मैंने कहा – आपकी भावना की दृष्टि से तो ठीक है, पर उस दोहे में कहा गया है –

बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग । १/१४३

तो उसे बड़ी सहजता से लिखा जा सकता था –

सीयराम पद पंकरुह दंपति मन अति लाग ।

वासुदेव का अर्थ श्रीकृष्ण मानकर ही वे आपत्ति कर रहे थे। वह अर्थ तो है ही, परन्तु उसका व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ है – जो सर्वत्र निवास करे, वही वासुदेव है।

तो उस समय तक मनु के मन में रूप की निश्चित धारणा नहीं थी। जब वे द्वादश-अक्षर मंत्र का जप करते हैं, तो भी भगवान क्यों नहीं आए। बोले – तुमने वासुदेव-मंत्र जप करके सर्वत्र-निवासी ईश्वर को तो पुकारा, लेकिन तुम ईश्वर का कौन-सा रूप मानते हो, यह तो बताओ। ईश्वर का रूप क्या है? जो भक्त चाहे। अब प्रश्न नहीं कि कौन-से भगवान अधिक सुन्दर हैं और कौन-से कम।

तो आकाशवाणी सुनते ही शरीर का क्या हुआ? यह हुआ कि राज्य छोड़कर चलते समय जैसे थे, जितने मोटे-ताजे थे, आकाशवाणी कान में आने पर वैसे ही हो गये –

हृष्ट-पुष्ट तन भये सुहाए ।
मानहुँ अबहिं भवन ते आए ।। १/१४५/८

क्या उद्देश्य था? बोले – इतने दिनों बाद मैंने दर्शन दिया, पर इस भ्रम में न रहना कि तुम दुबले हो गये हो इसलिए दर्शन दे रहा हूँ। दर्शन देने के लिए यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि शरीर कैसा हो, गोरा हो या काला, मोटा हो या दुबला, इसलिए ज्यों-का-त्यों बना दिया। और उसके बाद मनु बताते हैं – जिसका शास्त्रों ने निर्गुण और सगुण, दोनों के रूप में वर्णन किया है, जो शंकरजी के हृदय में निवास करते हैं, मुनि जिस रूप की साधना करते हैं –

जो सरूप बस सिव मन माहीं ।
जेहि कारन मुनि जतन कराहीं ।। १/१४६/४

पर इनमें भी भ्रम रह जाता तो भुशुण्डिजी का नाम ले लिया – जो काक-भुशुण्डिजी के मन-मानस के हंस हैं और वेद जिनकी सगुण-निर्गुण कहकर स्तुति करते हैं, ऐसे हे शरणागतों के दुख मिटानेवाले प्रभो, हम अपने नेत्रों को भरकर आपका वह रूप देखना चाहते हैं –

जो भुसुंडि मन मानस हंसा ।
सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ।।
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन ।
कृपा करहु प्रनतारति मोचन ।। १/१४६/५-६

इसके बाद भगवान उनसे कहते हैं – राजन्, मैं प्रसन्न हूँ, जो माँगना हो माँग लो। मनु संकट में पड़ गये। कहने लगे – प्रभो, कल्पतरु ने किसी से कहा कि जो माँगना हो, माँग लो। माँगनेवाला दर-दर भटककर एकाध रुपया पा लेता था। कल्पतरु ने माँगने को कहा, तो वह सोचने लगा कि इनसे यदि अधिक रुपये माँगें, तो कहीं मना न कर दें, तो इतना कम करके माँगो कि ये मना न कर सकें। यद्यपि सामने कल्पतरु है, पर उसकी दरिद्रता का स्वभाव तो ज्यों-का-त्यों है। मनु बोले – मेरी दशा इस समय वही है –

जथा दरिद्र बिबुधतरु पाई।
बहु संपति मागत सकुचाई।।
तासु प्रभाउ जान नहिं सोई।
तथा हृदयँ मम संसय होई।। १/१४९/५-६

प्रभु बोले – नहीं, नहीं, संकोच छोड़ो। प्रभु तो अन्तर्यामी हैं। मनु जो कुछ कहना चाहते हैं, वे समझ गये। और बात तो बड़े संकोच की है भी। यदि कोई पुत्र अपने पिता को ही 'बेटा' कहकर पुकारना चाहे, तो यह कितनी बड़ी असभ्यता है ! मनु जी ईश्वर को पुत्र बनाना चाहते हैं। लेकिन पिता को ही पुत्र बनने के लिए कहने में उन्हें संकोच हो रहा है। पर भगवान ने कहा – राजन्, संकोच छोड़कर जो चाहे माँग लो, कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो तुम्हें मैं नहीं दे सकता –

सकुच बिहाइ, मागु नृप मोही।
मोरें नहिं अदेय कछु तोही।। १/१४९/८

तो भी बेचारे कह नहीं सके कि आप मेरे पुत्र बनिए, डरे-डरे से बोले – महाराज, मैं तो बस आपके जैसा पुत्र चाहता हूँ। भगवान हँसे – यह तो तुमने बड़ा कठिन काम दे दिया। अब मैं चारों ओर कहाँ ढूँढ़ूँ कि मेरे समान कौन है। तो इतना कठिन परिश्रम करने की जगह यदि मैं ही तुम्हारा पुत्र बन जाऊँ, तो कैसा रहेगा? –

आप सरिस खोजौं कहँ जाई।
नृप तव तनय होब मैं आई।। १/१५०/२

मनु यही तो चाहते थे। पर भगवान और भी बोले – "मैं तो तुम्हारा पुत्र बनकर आऊँगा ही, पर साथ ही ये जो मेरे वामभाग में सुशोभित मेरी आदिशक्ति हैं, जिन्होंने इस संसार का निर्माण किया है, ये भी आयेंगी।"

वैसे है तो यह बड़ी अटपटी बात ! आप निमंत्रण किसी एक को दें और वे कहें कि इनको भी लेकर आ जाएँगे। प्रभु ने बड़ी मधुर दृष्टि से देखा। प्रभु का विनोद यह था कि अभी तो तुम कह रहे थे कि मेरे समान पुत्र चाहिए और मैं जन्म लेकर जब विवाह की अवस्था तक पहुँचूँगा, तो चिन्ता होगी कि मेरे पुत्र के योग्य बहू चाहिए। उस समय बहू खोजना बड़ा कठिन होगा, इसलिए इनको भी लेकर आ रहा हूँ। कोई परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं होगी। इसलिए तुम्हारी इच्छानुसार हम तो आ ही रहे हैं, परन्तु तुम्हें मेरे बहू की भी चिन्ता नहीं करनी होगी। क्योंकि मेरे योग्य वधू तो इनको छोड़कर कोई दूसरी हो नहीं सकती।

मनु प्रसन्न हो गये। और इसके बाद एक बड़ी मधुर बात आई। तपस्या तो मनु और शतरूपा – दोनों ने किया था। साधना भी बिल्कुल एक जैसी की थी, अतः मनु से बात कह लेने के बाद भगवान शतरूपाजी से बोले – हे देवि, अपनी इच्छा के अनुसार वर माँग लो –

देबि मागु बरु जो रुचि तोरें।। १/१५०/३

यह 'रुचि' शब्द बड़े महत्त्व का है। रुचि शब्द का क्या अर्थ है? अब सारी मिठाइयाँ तो चीनी, घी और बेसन आदि से ही बनती हैं, लेकिन उनमें से कोई मिठाई आपको बड़ी रुचिकर होती है। रुचि के अनुकूल होने का अर्थ है वह वस्तु जो हमें अच्छी लगे। इस तर्क से कोई लाभ नहीं कि सारी मिठाइयाँ तो उन्हीं वस्तुओं से बनी हैं, यह नहीं तो वह ले लो। खरीदार को इससे सन्तुष्टि नहीं होगी। इसी प्रकार साधना समान होने पर भी रुचि सबकी समान नहीं होती। अन्तर्यामी प्रभु जानते थे कि पति-पत्नी होते हुए भी दोनों की रुचियों में भिन्नता है। शतरूपा जी बड़ी मधुर भाषा में मानो भूमिका बाँधते हुए कहती हैं – जो वरदान चतुर महाराज ने माँगा है, मुझे भी वह बड़ा अच्छा लगा –

जो बरु नाथ चतुर नृप मागा।
सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा।। १/१५०/४

लेकिन आगे चलकर भिन्नता की बात बाहर आ गयी। वे बोलीं – महाराज, आपने मुझे अनुमति दी है, तो कहती हूँ – आपके भक्तों को जो सुख मिलता है, वह सुख दीजिए; भक्तों को जो गति मिलती है, वह गति दीजिए; भक्तों को जो भक्ति मिलती है, वह भक्ति दीजिए; भक्तों की जैसी रहनी होती है, वैसी रहनी दीजिए; भक्तों का आपके चरणों में जैसा अनुराग होता है, वैसा अनुराग दीजिए; भक्तों के मन में जैसा विवेक होता है, वैसा विवेक दीजिए –

जे निज भगत नाथ तव अहहीं।
जो सुख पावहिं जो गति लहहीं।
सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति
सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु
हमहि कृपा करि देहु।। १/१५०/८

तो दोनों के वरदान में भिन्नता है। जैसे कभी-कभी कोई पुस्तक आप पढ़ते हैं, या पत्र लिखते हैं, तो उसमें किसी बात को आप रेखांकित कर देते हैं, उस वाक्य के नीचे एक रेखा खींच देते हैं, माने इस पर आपका विशेष आग्रह है। मनुजी ने भगवान से माँगा था – आप मेरे पुत्र बनें, तो शतरूपाजी कौशल्या बनेंगी और उनके गर्भ से आप जन्म

लेंगे। पर शतरूपाजी ने अपने वरदान में छह वस्तुएँ माँग लीं। अब अन्तर क्यों हो गया?

इसे यों कह दें कि जैसे कोई कमल बन्द है, तो वह एक दिखाई दे रहा है और प्रकाश होने पर उसकी कई पंखुड़ियाँ अलग-अलग दिखाई देंगी। तो मनु का वरदान मानो कमल था और शतरूपा का वरदान मानो उसकी पंखुड़ियाँ थीं। कमल वही है, पर जब वह खिल जाता है, तो खिलने के बाद उसका पराग, मकरन्द आदि दीख पड़ता है।

तो शतरूपाजी ने छह चीजें माँग लीं। प्रभु ने सोचा कि जरा मनु को भी टटोले! तो प्रभु ने छह में भी एक नाम विशेष रूप से लेकर कहा – माँ, मैं आपको यह वरदान देता हूँ कि आपका अलौकिक विवेक कभी नहीं मिटेगा –

मातु बिबेक अलौकिक तोरें।
कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें।। १/१५१/३

उन छह वरदानों में विवेक भी एक है। भगवान ने कहा – छहों दे रहा हूँ और दिया भी, पर विवेक को मानो उन्होंने रेखांकित कर दिया। क्यों कर दिया?

मानो प्रभु की मनु के प्रति मधुर चुटकी यह थी कि शतरूपाजी ने तो बड़ी चतुराई से यह कहकर कि 'महाराज ने जो वरदान माँगा, वह मुझे प्रिय लगा', आपके वरदान में भाग ले लिया। अब इन्होंने जो छह माँगे हैं और मैं विवेक इन्हें विशेष रूप से दे रहा हूँ। अब भी समय है, तुम चाहो तो अब भी मैं दे दूँगा। लेकिन मनु चरणों में गिर पड़े और उन्होंने स्पष्ट कह दिया – मेरी एक और प्रार्थना है –

बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी।
अवर एक बिनती प्रभु मोरी।। १/१५१/४

क्या? बोले – विवेक दीजियेगा, तो इन्हीं को दीजियेगा, जरूर दीजियेगा, मुझे बिल्कुल मत दीजियेगा। लेकिन जब आप पुत्र बनिए, तो मैं आपको पुत्र समझूँ। शतरूपाजी चाहती हैं – पुत्र तो बनिए, पर यह विवेक भी रहे कि आप ईश्वर हैं। और मनु कहते हैं कि आप पुत्र बनिए तो मैं आपको पुत्र ही मानूँ, कभी यह विवेक न हो कि आप ईश्वर हैं। प्रभु ने हँसकर देखा। विवेक को अस्वीकार कर रहे हो? वे बोले – महाराज, कोई बात नहीं। क्यों? बोले – बात यह है – हमें विवेकी की उपाधि बिल्कुल नहीं चाहिए। हमें न ज्ञानी बनना है, न विवेकी; हम तो केवल आपको पुत्र ही समझें –

सुत विषइक तव पद रति होऊ।
मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ।। १/१५१/५

मानो रुचि का भेद हो गया। और प्रभु ने इतना निर्वाह किया कि कौशल्याजी को अपने रूप का दर्शन करा दिया, पर महाराज दशरथ को कभी भी उन्होंने अपने ऐश्वर्य को, अपने ईश्वर रूप को प्रगट करके नहीं दिखाया। सारी लीला में महाराज दशरथ का पुत्रभाव कितना प्रबल है? कौशल्याजी ने शरीर नहीं त्यागा और महाराज दशरथ ने शरीर त्याग दिया, तो उसका कारण यह है कि विवेक में स्थित कौशल्याजी शरीर-त्याग आवश्यक नहीं मानतीं और भगवान के स्नेह में स्थित मनु महाराज दशरथ के रूप में शरीर त्याग देते हैं।

और यह सूत्र यह बताने के लिए है कि ये जो अनगिनत साधनाएँ हैं, उन साधनाओं में सभी का अपना-अपना महत्त्व है। व्यक्ति जब सुनता है, तो सुनकर उसे निर्णय लेना होगा कि हम कहाँ स्थित हैं। किस साधना से हमें सन्तोष मिल सकता है और क्या कर पाना मेरे लिए सम्भव है। इन बातों को जब कोई समझ लेता है, तो समस्या नहीं रह जाती।

भुशुण्डिजी को भी सर्वव्यापी ईश्वर का परिचय मिला। भगवान ने उनको भी उसका बोध कराया। पर जब तक उनके मन में भेदबुद्धि थी, उन्होंने उस भेदबुद्धि को ही भक्ति के आधार के रूप में स्वीकार किया और उसी के द्वारा उन्हें भगवान राम के रूप का साक्षात्कार होता है। इसलिए यदि आप यह माननेवाले हैं कि ईश्वर सर्वव्यापी है, सर्वत्र निवास करता है, तो वह भी ठीक है, पर उसका मूल तत्त्व बस यही है कि ईश्वर सर्वत्र निवास करता है, ऐसा बोध होना चाहिए।

सुग्रीव की तरह नहीं। भगवान ने कहा – एक बाण से ही बालि का बध करेंगे, तुम्हें राज्य सिंहासन दे देंगे, तुम्हारा पत्नी से मिलन हो जायेगा। सुग्रीव को लगता है कि भगवान क्या छोटी चीजें देने को कह रहे हैं – न ज्ञान, न वैराग्य। – तुम्हारा पत्नी से बिछोह मिट जायेगा, राज्य मिल जायेगा। और सुग्रीव जब बोलने लगे, तो लगा कि कितना ऊँचा ज्ञान है। सुग्रीव ने कहा – महाराज, आपकी कृपा से मेरा मन पूरी तरह शान्त हो गया। अब कुछ नहीं चाहिये –

नाथ कृपाँ मन भयउ अलोला।। ४/७/१५

प्रभु आश्चर्य से देखने लगे। बन्दर का मन इतनी जल्दी शान्त हो गया। बड़ा अद्‌भुत है। और नाम मेरी कृपा का ले रहा है। मैंने कब कृपा की। और लगा कि जीव ईश्वर को उपदेश दे रहा है – महाराज, बालि शत्रु थोड़े है? शत्रु-मित्र, सुख-दु:ख, यह सब तो माया का खेल है –

सत्रु मित्र, सुख दुख जग माहीं।
माया कृत परमारथ नाहीं।। ४/७/१८

परमार्थ की दृष्टि से कोई सत्य नहीं है। परम परमार्थ रूप श्रीराम के समक्ष वह परमार्थ की व्याख्या करने लगा और बोला – नहीं महाराज, बालि को मारने की बात तो दूर हैं, बालि तो मेरा बड़ा हितैषी है, जिसकी कृपा से मुझे आप मिल गये –

बालि परम हित जासु प्रसादा।
मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा।। ४/७/१९

कितनी ऊँची भावना है, कितना ऊँचा ज्ञान है, कैसा मन शान्त हो गया है ! और फिर भगवान से माँग लिया – मुझे कुछ नहीं चाहिए। सुख, सम्पत्ति, परिवार, बड़ाई – यह सब कुछ छोड़कर हम आपका भजन करेंगे –

सुख सम्पति परिवार बड़ाई ।
सब परिहरि करिहऊँ सेवकाई ।। ४/७/१६

प्रभु ने पूछा – यह सब छोड़कर क्यों? बोले – आपके आराधक सन्तगण कहते हैं कि ये भक्ति में बाधक हैं –

ए सब राम भगति के बाधक ।
कहहिं संत तव पद अवराधक ।। ४/७/१७

प्रभु ने पूछा – ऐसा बोध हो रहा है क्या? – नहीं, पर संतगण कहते हैं। प्रभु समझ गये – पाठ अच्छा याद कर लिया है, पाठ दुहराने की शक्ति अच्छी है। सुग्रीव की वैराग्य युक्त वाणी सुनकर हाथ में धनुष लिए हुए भगवान हँसकर कहने लगे – तुमने जो कुछ कहा, वह बिल्कुल ठीक है। लेकिन मित्र, मैंने जो कहा, वह भी तो झूठ नहीं होगा –

सुनि बिराग संजुत कपि बानी ।
बोले बिहँसि रामु धनु पानी ।।
जो कछु कहेहु सत्य सब सोई ।
सखा बचन मम मृषा न होई ।। ४/७/२२-२३

अब सुग्रीव ही भगवान पर एहसान करने लगा। बोला – "महाराज, अब बालि के प्रति मेरी तो कोई शत्रुता की भावना है नहीं। पर आपको यदि अपने वचन की चिन्ता है कि आपके मुँह से निकल चुका है कि मैं बालि को मारूँगा और इसलिए मारना आवश्यक है, तब तो ठीक है।" मानो वह भगवान पर कृपा करके उन्हीं के सत्य की रक्षा के लिए इतने ऊँचे ज्ञान को छोड़कर नीचे के स्तर में उतरने को तैयार है। प्रभु ने यह नहीं कहा कि मेरे मुँह से निकल गया, तो मैं जरूर मारूँगा। प्रभु का तात्पर्य यह था कि मैंने जो कहा वह भी झूठ नहीं है और तुमने जो कहा वह भी झूठ नहीं है। केवल इतना ही है कि बात उलट गई है। अब मेरा जो सत्य है, उसे तुमने पकड़ लिया है और तुम्हारी बात मैंने कह दी। और तब प्रभु ने दिखा दिया।

चलो ठीक है, मेरी बात रखने के लिए लड़ो। सुग्रीव भगवान पर कृपा करके लड़ने के लिए चले। मन में कितना गर्व रहा होगा कि मैं इतना विरागी होते हुए भी भगवान के सत्य की रक्षा के लिए ऐसा कर रहा हूँ। गर्जना हुई। बालि निकलकर आया और ज्योंही बालि का एक मुक्का सुग्रीव को लगा, उसका सारा ज्ञान-भक्ति-वैराग्य दूर भाग गया –

तब सुग्रीव बिकल होइ भागा ।
मुष्टि प्रहार बज्र सम लागा ।। ४/८/३

इतनी चोट लगी कि भाग खड़ा हुआ और प्रभु को उलाहना देने लगा – आपने तो कहा था कि एक ही बाण से मारेंगे। प्रभु हँसने लगे। बोले – क्या कहूँ, मैं तो पहचान ही नहीं सका –

एकरूप तुम्ह भ्राता दोऊ । ४/८/५

व्यंग्य मानो यह था कि जब तुम कहते हो कि शत्रु-मित्र में कोई भेद ही नहीं है, तो भला मैं कैसे पहचानता कि कौन बालि है और कौन सुग्रीव? तब सुग्रीव बोले – महाराज, मैंने जो भी शब्द कहे थे, उन सबको वापस लेता हूँ। वह न मेरा बन्धु है, न मित्र है, न माया का खेल संसार है; वह तो मेरा घोर शत्रु है, जीवन भर मुझे सताता रहा है, मेरा काल है –

मैं जो कहा रघुबीर कृपाला ।
बंधु न होइ मोर यह काला ।। ४/८/४

भगवान ने कहा – ठीक है।-अब मैं वही करूँगा, जिससे तुम्हारा भय मिट जाय। इसका अभिप्राय यह है कि हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि हम किस स्तर पर हैं। हम स्वयं को वह मान बैठते हैं, जो हम नहीं हैं, तो इसके फलस्वरूप स्वाभाविक रूप से ही हमें अनेक प्रकार के विभ्रम तथा संकटों का सामना करना पड़ता है। इसलिए महर्षि वाल्मीकी संक्षेप में एक उत्तर देते हैं और वह उत्तर कोई बहुत विस्तार की अपेक्षा भी नहीं रखता –

पूँछेहु मोहि कि रहौं कहँ,
मैं पूँछत सकुचाउँ ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि,
तुम्हहि देखावौं ठाउँ ।। २/१२७

परन्तु इसके बाद जिन चौदह स्थानों के सन्दर्भ में चर्चा करनी है, उसका पहला वाक्य वे यह कहकर आरम्भ करते हैं कि आप उन लोगों के हृदय में निवास कीजिए, जिनके कान समुद्र के समान हैं। जैसे नदियाँ समुद्र में जाती रहती हैं, फिर भी समुद्र को यह नहीं लगता कि बहुत जल आ चुका, अब नहीं चाहिए। इसी प्रकार से जिनके कान समुद्र की तरह हैं और आपकी कथाएँ विविध नदियों के रूप में उनके कानों में जाती रहती हैं, तो भी वे कभी भरते नहीं –

जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना ।
कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना ।।
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे ।
तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे ।।२/१२८/४-५

तो साधना का पहला क्रम है – कथा सुनना। कई लोग कहते हैं केवल कथा सुनने से क्या होगा, जो सुना है, उसे जीवन में उतारना भी तो चाहिए। लेकिन केवल सुनते रहिए, तो भी ठीक है, वह भी भक्ति है। सुनना भी और सुन करके पहले उतारना, यह भी एक साधना का रूप है। और श्रोता बन जाइए, बस इतने में भी भक्ति है। बड़ा सरल है। इतने श्रोता हैं और वक्ताओं की गणना करना भी बड़ा कठिन है। श्रोता बन जाना माने सब कुछ बन जाना। बस यह महान् सूत्र समझ लीजिए। इसमें मानो यह कहा गया कि आप केवल

श्रोता बन जाइए, यह नहीं कहा कि जो सुनेगा, उसके हृदय में भगवान निवास करेंगे।

आगे वर्णन है – जो नेत्र को चातक बनाकर रूप-दर्शन करते हैं, वे भी भक्त हैं, कथा-श्रवण मात्र से भी आप भक्त हैं और भगवान की कथा सुनाकर भी आप भक्त हैं। लेकिन क्या श्रोता बन जाना इतना ही सरल है? वक्ता बन जाना क्या इतना ही सरल है? और उसका सूत्र क्या है? उसका मूल तत्त्व क्या है? रामायण में एक श्रोता तैयार करने में शंकरजी को कितना समय लग गया? और कितना बड़ा श्रोता! आप सुन तो रहे हैं, पर यह मत मान बैठियेगा कि आप श्रोता बन गये। मैं कह रहा हूँ, पर मैं यह मानने की भूल नहीं कर सकता कि मैं पूरी तरह से वक्ता हूँ। सचमुच श्रोता बनना कितना कठिन है! श्रोता के इतने लक्षण गिनाये गये हैं – वह सुन्दर बुद्धिवाला हो, सुशील हो, पवित्र हो, कथा का रसिक हो, हरि का दास हो, ऐसे श्रोता को पाकर सज्जन लोग इस अति गोपनीय रहस्य को प्रकट कर देते हैं –

श्रोता सुमति सुसील सुचि
कथा रसिक हरि दास।
पाइ उमा अति गोप्यमपि
सज्जन करहिं प्रकास ।। ७/६९/ख

किसी ने कहा – वक्ता को तो बड़ा आराम हो गया। श्रोता के लिए तो इतने लक्षण और वक्ता के लिए कुछ भी नहीं। मैंने कहा – सज्जन शब्द की परिभाषा क्या है, सज्जन के लक्षण क्या-क्या बताये गये हैं, उसे पढ़ लीजिए तो समझ में आ जायेगा कि वह कितना कठिन है!

सूरदासजी ने एक बड़ा ही भावपूर्ण वाक्य लिखा है। उद्धवजी जब उपदेश देने के लिए आए, तो गोपियों ने उन्हें कई तरह के उत्तर दिये। एक उत्तर यह भी दिया – उद्धवजी, सच्चे अर्थों में, न तो हम वियोगिनी हैं और न आप दास –

ना हम बिरहिन ना तुम दास।

इसका अभिप्राय यह है कि इतनी ऊँची वियोग की स्थिति में उनको लगता है कि वस्तुत: हमारी सच्ची वियोगिनी की स्थिति नहीं है। और उसी में यह भी कह देती हैं कि आप भी यह भ्रम न पाल लीजिएगा कि आप उनके दास हैं।

कहा जाता है कि वाल्मीकिजी रामायण के आदि रचयिता हैं, पर यह सत्य नहीं है। भगवान शंकर ने उनसे भी पहले रामायण की रचना की थी, पर बाद में वाल्मीकिजी ने इसे छन्दबद्ध रूप में लिखा और लव-कुश जैसे शिष्यों को याद करा दिया। शंकरजी ने जब रामायण लिखा, तो कवियों की दृष्टि में जो कमी देखने को मिलती है, वह उनमें नहीं थी। एक-दो नहीं, अधिकांश कवियों की आकांक्षा रहती है कि कोई सुननेवाला मिले। और कुछ तो इतना सुनाते हैं कि लोग जब सुनते हैं कि कविजी घर आ रहे हैं, तो कहलवा देते हैं – घर में नहीं हैं। न जाने कब तक सुनाते रहेंगे – एक और सुन लो, एक और सुन लो।

पर शंकरजी ने रामायण को बनाकर अपने हृदय में रख लिया और पता नहीं कितने लाख वर्ष बीत गये, तब कहीं एक श्रोता मिला और शंकरजी ने उन्हें यह कथा सुनाई –

रचि महेस निज मानस राखा।
पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा ।। १/३५/११

अवसर आने पर सुनाया। सतीजी को उन्होंने श्रोता बनाना चाहा, पर वे तो जाकर भी कथा नहीं सुन पाईं। और उन्हें श्रोता बनने के लिए एक नया ही जन्म लेना पड़ा। अत: यह भ्रम नहीं पाल लेना चाहिए कि सत्य इतना ही है।

आप लोगों में से भी कई ऐसे होंगे। आ तो गये हैं, पर शायद सुना कुछ भी न हो। एक सज्जन तो बेचारे नींद में गिर ही पड़े, फिर उठकर चले भी गये।

तो इन चौदह स्थानों में से यदि एक भी साधन हमारे जीवन में आ जाय, तो वह परम साध्य है। और उसको छोड़कर और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है।

❖ (क्रमश:) ❖

पुरखों की थाती

उदारस्य तृणं वित्तं शूरस्य मरणं तृणम्।
विरक्तस्य तृणं भार्या नि:स्पृहस्य तृणं जगत् ।।

– उदार व्यक्ति के लिए धन-सम्पदा तृण के समान तुच्छ है, शूर-वीर के लिए मृत्यु तृण के समान तुच्छ है, वैराग्यवान व्यक्ति के लिए नारी तृण के समान तुच्छ है और कामनाहीन व्यक्ति के लिए सारा जगत् ही तृण के समान तुच्छ है।

उद्यम: साहसं धैर्यं बुद्धि: शक्ति: पराक्रम:।
षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र देव: सहायकृत् ।।

– जिस व्यक्ति में उद्यम, साहस, धैर्य, बुद्धि, शक्ति तथा पराक्रम – ये छह गुण विद्यमान रहते हैं, भाग्य भी उन्हीं की सहायता करता है।

उपकार: परो धर्म: परार्थं कर्म-नैपुणम्।
पात्रे दानं पर: काम: परो मोक्षो वितृष्णता ।।

– सत्कर्म ही श्रेष्ठ धर्म है, परोपकार ही कर्म-कुशलता है, सत्पात्र को दान करने की इच्छा ही श्रेष्ठ कामना है और वैराग्य ही परम मुक्ति है।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(अनेक वर्षों पूर्व विद्वान् लेखक ने 'विवेक-ज्योति' के लिए प्रेरक-प्रसंगों की एक शृंखला लिखी थी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित होकर बड़ी लोकप्रिय हुई। अनेक वर्षों के अन्तराल के बाद उन्होंने अब उसी परम्परा में और भी प्रसंगों का लेखन प्रारम्भ किया है। – सं.)

(१७) त्याग ही सर्वश्रेष्ठ गुण है

एक बार नारद मुनि श्रीकृष्ण से मिलने द्वारका गये। वहाँ उनकी भेंट उनकी पत्नी सत्यभामा से हुई। उनकी प्रसन्न मुद्रा न देख मुनि ने पूछा, "क्या बात है, आज तुम्हारे चेहरे पर खिन्नता और उदासीनता दिखाई दे रही है। श्रीकृष्ण जैसे पति पाकर तो तुम्हें सदैव प्रसन्नचित्त दिखाई देना चाहिए।" सत्यभामा ने उत्तर दिया, "बात सही है मुनिवर, श्रीकृष्ण के सान्निध्य में जो भी रहेगा, वह प्रमुदित ही रहेगा, पर मेरे भाग्य में वैसा नहीं लिखा है। कुछ दिनों से मुझे लग रहा है कि श्रीकृष्ण को रुक्मिणी ही अधिक प्रिय है। अब आप ही देखिये न, पारिजात का वृक्ष तो उन्होंने लगाया है मेरे आँगन में, मगर फूल गिरते हैं रुक्मिणी के आँगन में। मुझसे बात करते समय हमेशा रुक्मिणी की ही प्रशंसा करते रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि वे मेरे साथ भेदभाव करते हैं।"

– "तो तुम चाहती हो कि श्रीकृष्ण रुक्मिणी से ज्यादा तुमसे प्रेम करें। पर इसके लिए तुम्हें संकल्प करना होगा कि तुम अपनी सबसे प्रिय वस्तु सन्तों को दान करोगी। यदि स्वीकार हो, तो बोलो तुम्हारी सबसे प्रिय वस्तु कौन-सी है?

– "वैसे तो मेरी सबसे प्रिय वस्तु श्रीकृष्ण हैं, पर उन्हें कैसे दान में दे सकती हूँ? क्या कोई अन्य उपाय नही है?"

– "तो फिर तुम्हें श्रीकृष्ण के भार के बराबर सोने का तुलादान करना होगा। क्या तुम राजी हो?"

सत्यभामा के हामी भरने पर एक बड़ी तुला मँगवायी गयी। उसके एक पलड़े पर श्रीकृष्ण को बिठाया गया और दूसरे पर सत्यभामा से सोना रखने को कहा गया। सत्यभामा ने अपने सारे स्वर्णालंकार लाकर पलड़े पर रख दिये, परन्तु श्रीकृष्ण वाला पलड़ा ऊपर ही न उठा।

रुक्मिणी उधर से ही होकर जा रही थी। नारद मुनि को देखकर वह रुक गई और उन्हें प्रणाम किया। उसके हाथ में तुलसी-पत्र देखकर मुनि ने पूछा – "यह क्या है और इसे कहाँ ले जा रही हो?" रुक्मिणी बोली – "यह तुलसीपत्र है, जिसका सुवास श्रीकृष्ण को अत्यन्त प्रिय है और उन्हें जो प्रिय है, वही मुझे भी प्रिय है।" मुनि ने पूछा – "तो क्या तुम श्रीकृष्ण के लिए इसका त्याग करने को तैयार हो?" रुक्मिणी बोली, "अवश्य, मैं इसे छोड़ने को तैयार हूँ।" मुनि ने उनके हाथ से तुलसी-पत्र लेकर ज्यों ही तराजू के उस पलड़े पर रखा और सभी यह देखकर दंग रह गये कि उस तुलसीपत्र के रखते ही दोनों पलड़े समान स्तर पर आ गये।

यह बात सत्यभामा की समझ में आ गयी कि श्रीकृष्ण को रुक्मिणी ही क्यों अधिक प्रिय है? नारद मुनि ने समझाते हुए कहा, "बाह्य आडम्बर से आत्मत्याग श्रेष्ठ है। प्रेम के बिना त्याग नहीं होता और त्याग के बिना प्रेम भी सम्भव नहीं।

(१८) कलियुग, शुद्र तथा नारी की महिमा

एक बार मुनियों में विवाद छिड़ा कि अल्पकाल में पुण्य कैसे प्राप्त किया जा सकता हैं तथा उसे प्राप्त करने का अधिकार किसके पास है? समाधान हेतु वे महामुनि व्यास के पास गये। उस समय वे गंगा-स्नान कर रहे थे। मुनि ने नदी में एक डुबकी लगाई और कहा, "कलियुग ही श्रेष्ठ है। कलियुग ही श्रेष्ठ है।" दूसरी डुबकी लगाकर कहा, "शुद्र ही धन्य हैं। शुद्र ही धन्य हैं।" और तीसरी डुबकी लगाने के बाद बोले, "स्त्रियाँ ही साधु हैं। स्त्रियाँ ही धन्य हैं।"

व्यास मुनि स्नानादि से निवृत्त हुए तो मुनिजन उनके पास आये और उन्होंने कहा, "हम आप के पास किसी दूसरे प्रयोजन से आए थे, पर इस समय तो हम यह जानना चाहते हैं कि आपके उपरोक्त कथन का क्या तात्पर्य है?"

व्यासदेव बोले – "जो फल सतयुग में दस वर्ष के तप व अन्य धर्माचरण से प्राप्त होता है, वह त्रेतायुग में एक वर्ष में, द्वापरयुग में एक माह में और कलियुग में केवल एक दिन में प्राप्त होता है, अत: मैंने कलियुग को श्रेष्ठ कहा है।

वैसे ही ब्राह्मणों और क्षत्रियों को दीर्घावधि में धर्माचरणों व संस्कारों को करने हेतु श्रम व शक्ति व्यय करना पड़ता है और तब उन्हें पुण्य प्राप्त होता है, पर शुद्र केवल महात्माओं की सेवा करके ही पुण्य प्राप्त करने मे सफल हो जाते हैं।

स्त्रियाँ भी मनसा, वाचा, कर्मणा अपने पति की सेवा में लीन होकर सारे कर्म करती हैं, इस कारण वे श्रेष्ठ हैं और इसीलिए मैने उन्हें 'साधु' और धन्य कहा। मुनियों ने सुना, तो कहा, "महामुने ! हम जिस प्रयोजन से आये थे और जो हमारी जिज्ञासा थी, उसका समाधान हो गया है।"

❖ (क्रमश:) ❖

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

– ५७ –

हर रंग में रँगनेवाला रंगरेज

एक व्यक्ति के पास एक रंग से भरा हुआ नाद था। बहुत-से लोग उसके पास कपड़े रँगाने के लिए आया करते थे। वह पूछता, "तुम किस रंग में रँगाना चाहते हो?" कोई कहता, "लाल रंग में।" बस, वह उसके कपड़े को अपने नाद में डाल देता और निकालकर कहता, "यह लो, तुम्हारा कपड़ा लाल रंग से रँग गया।" कोई दूसरा कहता, "मेरा कपड़ा पीले रंग में रँग दो।" तो रंगरेज तत्काल उसका कपड़ा भी उसी गमले में डुबाकर कहता, "यह लो, तुम्हारा पीले रंग में रँग गया।" यदि कोई अपने कपड़े आसमानी रंग में रँगाना चाहता, तो रंगरेज फिर उसी गमले में डुबाकर कहता, "यह लो, तुम्हारा आसमानी रंग से रँग गया।" इसी प्रकार जो जिस रंग से कपड़ा रँगाना चाहता, उसके कपड़े वह उसी गमले में डालकर उसके इच्छित रंग में रँग देता। एक व्यक्ति खड़ा-खड़ा यह अद्भुत कारनामा देख रहा था। रंगरेज ने उससे पूछा, "क्यों जी, तुम्हारा कपड़ा किस रंग से रँगना होगा?" तब उस देखनेवाले ने कहा, "भाई, तुमने जो रंग इस गमले में डाल रखा है, वही रंग मुझे दो।"

श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "ईश्वर ने नाना रूपों की सृष्टि की है, अतः वे साकार हैं। उन्होंने मन की सृष्टि की है, इसलिए वे निराकार हैं। वे सब कुछ हो सकते हैं। ईश्वर को प्राप्त किये बिना ये सब बातें समझ में नहीं आतीं। वे साधक को अनेक भावों और अनेक रूपों में दर्शन देते हैं।"

महापुरुष और अवतार हर व्यक्ति को उसके अपने मत या भाव के अनुसार उसे कृतार्थ किया करते हैं।

– ५८ –

पंचभूत के बन्धन : ब्रह्म भी करे क्रन्दन

हिरण्याक्ष का वध करने हेतु भगवान विष्णु ने वराह के रूप में अवतार लिया। दैत्यवध का कार्य समाप्त हो जाने के बाद भी वे अपने वराह रूप में ही बच्चे-कच्चे लेकर मजे में रहने लगे। वे अपना स्वरूप भूलकर बच्चों को स्तनपान आदि कराते रहते! देवताओं के जाने पर उन्होंने गुर्राकर उन्हें भगा दिया। देवताओं को चिन्ता हुई कि भगवान के वैकुण्ठ लौटे बिना ब्रह्माण्ड कैसे चलेगा। उन लोगों ने आपस में सलाह की और भगवान शिव के पास जाकर उनसे अनुरोध किया कि वे किसी उपाय से भगवान को मनाकर उन्हें वापस वैकुण्ठ में ले आयें।

शिवजी ने पूछा, "आप अपने को भूल क्यों गये हैं?" विष्णु ने उत्तर दिया, "मैं जहाँ हूँ, बड़े मजे में हूँ!" दूसरा कोई चारा न देख शिवजी ने अपने त्रिशूल के प्रहार से वराह का शरीर विनष्ट कर डाला; और तब भगवान हँसते हुए पुनः स्वधाम में पधारे।

श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "पंचभूतों के फन्दे में पड़कर ब्रह्म भी रोते हैं। सभी उस महामाया आद्याशक्ति के अधीन हैं। अवतार आदि तक उस माया का आश्रय लेकर ही लीला करते हैं; इसीलिए वे आद्याशक्ति की पूजा करते हैं। देखो न, राम सीता के लिए कितने रोये हैं।"

– ५९ –

जैसा भाव वैसा लाभ

दो मित्र गाँव से नगर घूमने आये। रास्ते में चलते-चलते एक जगह उन्होंने देखा कि भागवत का पाठ चल रहा है। एक ने कहा, "चलो भाई, थोड़ी देर यहाँ बैठकर भागवत की कथा सुन लें।" दूसरा बोला, "नहीं भाई, भागवत सुनकर क्या होगा? चलो अमुक वेश्या के यहाँ चलकर थोड़ा नाच-गाने का लुत्फ उठाएँ।" इस पर पहला मित्र राजी नहीं हुआ और अकेला ही भागवत सुनने चला गया।

दूसरा मित्र वेश्या के घर जा पहुँचा। पर वहाँ जाकर वह मौज नहीं उड़ा सका। थोड़ी ही देर में उसके मन में विरक्ति आई और वह बारम्बार सोचने लगा – "मुझे धिक्कार है! मैं यहाँ क्यों आया! मेरा दोस्त तो वहाँ बैठकर कितनी अच्छी भगवान की बातें सुन रहा है और मैं यहाँ कहाँ आ पड़ा हूँ!'

इधर पहला मित्र भागवत सुनने तो बैठ गया, परन्तु वह भी अपने मन में यही सोच-सोचकर पश्चाताप कर रहा था कि – "मैं कैसा मूर्ख हूँ! यह पण्डित न जाने क्या बक रहा है और मैं यहाँ बैठा हुआ हूँ! मैं अपने दोस्त के साथ क्यों नहीं गया! मेरा मित्र इस समय कैसा मौज उड़ा रहा होगा!'''

सहसा तभी उस नगर में भूकम्प आया और एक साथ ही दोनों मित्रों की मृत्यु हो गयी। अब जो भागवत सुन रहा था, उसे तो यमदूत ले गए और जो वेश्या के घर गया था, उसे विष्णु-दूत वैकुण्ठ में ले गए। क्योंकि भगवान तो भावग्राही

हैं। वे व्यक्ति का मन देखते हैं। कौन क्या कर रहा है, कहाँ पड़ा हुआ है – यह नहीं देखते। जैसा भाव होता है, वैसा ही लाभ भी होता है। अत: भागवत सुननेवाले को वेश्या के घर जाने का फल मिला, और वेश्या के घर जानेवाले को भागवत-श्रवण का फल।

– ६० –
अहंकार से दुर्गति

बछड़े की अवस्था सोचने पर समझ में आ जाता है कि 'मैं'-'मैं' – करने से कितनी दुर्गति होती है। बछड़ा 'हम्बा हम्बा' (मैं-मैं) किया करता है। उसकी दुर्गति देखो। बड़ा होने पर सुबह से शाम तक, चाहे धूप हो या वर्षा, उसे हल में जुतना पड़ता है। यदि कसाई के हाथ में पहुँच गया, तो वह उसका पूरा सफाया ही कर डालता है। मांस लोगों के पेट में चला गया और चमड़े से जूते बन जाते हैं। आदमी उसे पैरों में पहनकर चलता है। इतने पर भी दुर्गति का अन्त नहीं होता। चमड़े से जंगी ढोल मढ़े जाते हैं और लकड़ी से उसे लगातार पीटा जाता है। अन्त में जब उसकी अँतड़ियों को लेकर ताँत बनायी जाती है। धुनिया जब उस ताँत को अपने धनुए में लगा कर रूई धुनता है, तब वह 'तू-ऊ-तू-ऊ' की आवाज करने लगता है। तब वह 'हम्बा-हम्बा' भूल जाता है। 'तू-ऊ-तू-ऊ' कहने पर ही उसे छुटकारा मिलता है। तब मुक्ति होती है। कर्मक्षेत्र में फिर नहीं आना पड़ता।

"मैंने किया" – यह कथन अज्ञान से होता है। ईश्वर ही कर्ता हैं, और सब अकर्ता। "हे ईश्वर तुम्हीं ने ऐसा किया" – यह कहना ज्ञान है। जीव भी जब कहता है – "हे ईश्वर, मैं नहीं, तुम्हीं कर्ता हो, मैं यंत्रमात्र हूँ, तुम्हीं यंत्री हो" – तभी वह संसार की पीड़ाओं से छूट पाता है और उसकी मुक्ति होती है। फिर उसे इस कर्मक्षेत्र में नहीं आना पड़ता।

ईश्वर-दर्शन के बिना अहंकार दूर नहीं होता। यदि किसी का मिट गया हो, तो उसे जरूर ईश्वर के दर्शन हुए होंगे। पारस पत्थर छू जाय तो लोहा भी सोना हो जाता है – लोहे की तलवार सोने की हो जाती है। पर आकार मात्र रह जाता है, वह तलवार किसी का अनिष्ट नहीं कर सकती।"

– ६१ –
हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता

एक आदमी शौच के लिए जंगल गया। उसने देखा कि पेड़ पर एक प्राणी बैठा है। लौटकर उसने एक अन्य व्यक्ति से कहा – "देखो जी, उस पेड़ पर हमने एक लाल रंग का सुन्दर प्राणी देखा है।" उस दूसरे व्यक्ति ने कहा – "हाँ, हाँ, जब मैं शौच के लिए गया था, तब मैंने भी उसे देखा; परन्तु तुम उसका रंग गलत बता रहे हो। वह लाल नहीं, बल्कि हरा है!" एक तीसरा व्यक्ति भी दोनों की बातें सुन रहा था। वह बोला – "नहीं जी, नहीं; उसे तो हमने भी देखा है, लेकिन उसका रंग पीला है।" इसी प्रकार और भी कुछ देखनेवाले मिल गये। उनमें से किसी ने कहा वह भूरा है, किसी ने कहा बैगनी है और किसी ने तो उसे आसमानी रंग का भी बताया।

आखिरकार उन लोगों के बीच लड़ाई की नौबत आ गयी। तभी किसी ने सलाह दी – क्यों न पेड़ के नीचे ही जाकर सत्यापन कर लें। सभी लोग एक साथ उस पेड़ के नीचे जा पहुँचे। सबने देखा – वहाँ पहले से ही एक आदमी बैठा था। पूछने पर उसने कहा – "मैं इसी पेड़ के नीचे रहता हूँ। उस प्राणी को मैं खूब पहचानता हूँ। तुममें से प्रत्येक का कहना सही है। इस प्राणी का नाम है गिरगिट। यह कभी लाल, कभी हरा, कभी पीला, कभी आसमानी और भी न जाने कितने रंग बदलता है। और कभी देखता हूँ, तो कोई रंग नहीं, निर्गुण है!"

श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "जो व्यक्ति सर्वदा ईश्वर-चिन्तन करता रहता है, वही जान सकता है कि उनका स्वरूप क्या है। वह जानता है कि वे अनेकानेक रूपों में दर्शन देते हैं, अनेक भावों में दीख पड़ते हैं – वे सगुण हैं और निर्गुण भी। जो पेड़ के नीचे रहता है वही जानता है कि उस गिरगिट के कितने रंग हैं, फिर कभी-कभी तो उसका कोई भी रंग नहीं रहता। दूसरे लोग वाद-विवाद करके केवल कष्ट उठाते हैं। कबीर कहते थे, 'निराकार मेरा पिता है और साकार मेरी माँ।' वे भक्तवत्सल हैं, भक्त को जो रूप प्रिय है, उसी रूप में वे दर्शन देते हैं। पुराणों में कहा है कि वीरभक्त हनुमान के लिए ही उन्होंने रामरूप धारण किया था।

ईश्वर को सिर्फ साकार कहने से क्या होगा! वे मनुष्य रूप धारण करके आते हैं, अनेक रूपों से भक्तों को दर्शन देते हैं यह भी सत्य है और फिर वे निराकार अखण्ड सच्चिदानन्द भी हैं। वेदों ने उनको साकार भी कहा है, निराकार भी कहा है; सगुण भी कहा है और निर्गुण भी। फिर वे इनसे परे भी हैं। उनकी इति नहीं की जा सकती।

सच्चिदानन्द मानो एक अनन्त समुद्र है। ठण्डक के कारण समुद्र का पानी बर्फ बनकर तैरता है। पानी पर बर्फ के कितने ही आकार के टुकड़े तैरते हैं। वैसे ही भक्तिहिम के लगने से सच्चिदानन्द-सागर में साकार मूर्ति के दर्शन होते हैं। वे भक्त के लिए साकार होते हैं। फिर जब ज्ञानसूर्य का उदय होता है तब बर्फ गल जाती है, फिर वही पहले का पानी ज्यों-का-त्यों रह जाता है। ऊपर-नीचे जल-ही-जल भरा हुआ है। इसीलिए श्रीमद्भागवत में सभी स्तव करते हैं, "हे देव, तुम्हीं साकार हो, तुम्हीं निराकार हो। हमारे सामने तुम मनुष्य बने घूम रहे हो, परन्तु वेदों ने तुम्हीं को मन-वाणी से परे कहा है।" ❖ (क्रमशः) ❖

सार्थक जीवन (२)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(गत कुछ वर्षों में संत गजानन संस्थान अभियान्त्रिकी महाविद्यालय, शेगांव, महाराष्ट्र में स्वामी सत्यरूपानन्द ने उक्त महाविद्यालय में व्यक्तित्व विकास एवं चरित्र-निर्माण विषय पर कुछ कार्यशालाओं का संचालन किया था। इनमें की गई चर्चाओं को लिपिबद्ध कर लिया गया था और कुछ को उक्त महाविद्यालय ने छोटी छोटी पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित किया है। ये सभी चर्चाएँ अंग्रेजी भाषा में ही प्रकाशित हुई हैं। उनमें से एक पुस्तिका का नाम Meaningful Life है। रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर, छत्तीसगढ़ के एक संन्यासी स्वामी निर्विकारानन्द ने इसका अनुवाद हिन्दी में किया है। - सं.)

हमारे रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने के लिये ये व्यवसाय पर्याप्त साधन हो सकते हैं। किन्तु ये कभी भी हमारे जीवन के स्तर को उन्नत और विकसित नहीं कर सकते। स्वयं के जीवन के स्तर को उन्नत करना भौतिक-साधनों के परिक्षेत्र के बाहर है। भौतिक साधन केवल जीवन के स्तर को उन्नत कर सकते हैं। अन्य ऐसे अनेक तत्व हैं जो जीवन के स्तर को ऊँचा उठाकर उसे अर्थ प्रदान करते हैं।

आत्म-तादाम्य जीवन को अर्थ देता है :- स्वयं से परिचय की समस्या आज के युग की सबसे बड़ी तथा भ्रामक समस्या है। मनुष्य ने अपनी स्व-पहचान और व्यक्तित्व को खो दिया है। हमारी आज की शिक्षा, आविष्कार और खोज तथा समग्र संसार में राजनीतिक दुर्व्यवस्था ने आधुनिक पीढ़ी को भ्रमित कर दिया है। मनुष्य ने अपने व्यक्तित्व को खो दिया है, क्योंकि इस दुर्व्यवस्था एवं सम्भ्रान्ति की अवस्था में वह अपने आपको बाहरी चीजों के साथ तादातमय करने की कोशिश कर रहा है। जिनका अपने आप में कोई मूल्य नहीं है। जैसे मनुष्य ने अपने को धन-सम्पत्ति से यह सोचते हुए एकाकार कर लिया है कि वे उसे समाज में प्रतिष्ठा तथा स्वयं को सन्तोष देंगे। किन्तु जब हम धन और सम्पत्ति के मूल्यों का गहराई से निरीक्षण करते हैं तो पाते हैं कि यद्यपि मनुष्य जीवन में इनकी उपयोगिता तो है। यह मनुष्य ही है जिसने की इसे मूल्यवान बना दिया है, क्योंकि इसकी जीवन में उपयोगिता है। आधुनिक समाज में धन-सम्पत्ति को समान तथा न्याय संगत रूप से नहीं बाँटा गया है। इसलिए हम लोगों में जिन लोगों के पास धन-सम्पत्ति अधिक है, वे अविवेकपूर्वक अपने अहम् को फुला लेते हैं और सोचते हैं कि जिन लोगों के पास हमसे कम धन सम्पत्ति है हम उनसे श्रेष्ठ हैं। धन-सम्पत्ति के साथ इस भ्रान्तिपूर्ण एकात्मता ने हमारे मन में व्यक्तित्व के सम्बन्ध में, वह भी एक श्रेष्ठ व्यक्तित्व के सम्बन्ध में एक मिथ्या धारणा उत्पन्न कर दी है।

धन-सम्पत्ति मनुष्य के सच्चे स्वरूप तक न कभी पहुँच सकती है और न ही उसका स्पर्श कर सकती है। मानव व्यक्तित्व के निर्माण के लिये धन-सम्पत्ति मौलिक आधार नहीं है। जब कभी किसी कारणवश धन तथा सत्ता में उतार-चढ़ाव आता है और मनुष्य धन-सम्पत्ति खो बैठता है या गलत उपायों से इकट्ठा किया गया धन का भण्डाफोड़ हो जाता है, तब मनुष्य का ऊपर से नीचे तक पूरा व्यक्तित्व हिल जाता है, पैरों तले की जमीन खिसक जाती है, खड़े होने को कोई जगह नहीं मिलती और अन्ततः महान् दुःख-कष्टों में जा गिरता है।

कुछ लोग ऐसे हैं जो स्वयं को पद और सत्ता से एकीभूत कर लेते हैं। धन उनके लिये उतना मायने नहीं रखता, जितना उन लोगों के लिये जो कि अपने को धन-सम्पत्ति से एकीकृत किये हुये हैं। ये समाज अथवा राजनीति में पद एवं सत्ता पाने के लिये कितना भी धन गँवाने के लिये तैयार रहते हैं। राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थाओं में पद और सत्ता कभी स्थाई नहीं होती। जैसे ही मनुष्य की राजनीतिक एवं सामाजिक सत्ता का अन्त होता है वैसे ही वह व्यक्ति जिसने स्वयं को इस सत्ता से एकात्म कर रखा है उसका व्यक्तित्व चूर-चूर हो जाता है और व्यक्तित्वहीन रह जाता है।

कुछ ऐसे भी लोग हैं जो अपने आपको विद्वत्ता और व्यवसायिक निपुणता के साथ एकीभूत कर चुके होते हैं, जैसे वैज्ञानिक, अभियता, चिकित्सक तथा वकील आदि। जब वे अपनी निपुणता के चरम बिन्दु पर पहुँच जाते हैं और देखते हैं कि उनके पास कुछ भी करना शेष नहीं है, समय के साथ-साथ उनकी कार्यक्षमता तथा निपुणता क्षीण होती जा रही है और तब उनके भी पैरों तले की जमीन खिसक जाती है। अन्ततः वे अनुभव करते हैं कि उनके लिये जीवन व्यर्थ और अर्थहीन है।

व्यक्तित्वहीन व्यक्ति : आधुनिक तकनीकी एवं वैज्ञानिक संस्कृति ने मनुष्य को भी उस यंत्र का एक पुर्जा बना दिया है जो कि आज का समाज है। यह समाज यत्र मनुष्य को भी ससार की एक वस्तु मानता है। इसकी दृष्टि में मनुष्य तभी तक मूल्यवान है जब तक कि उससे कुछ भौतिक लाभ होता है। क्या मनुष्य मशीन में पुर्जा है या अनन्त वस्तुओं में एक वस्तु मात्र? हममें से प्रत्येक का अनुभव इस तथ्य को अन्तर से पुरजोर नकारता है। मनुष्य उसके शरीर में पाये जानेवाले तरह-तरह के खनिज, रसायन एवं विद्युत-रसायनिक क्रियाओं का

महायोग मात्र नहीं है। मनुष्य उसके सम्पूर्ण मानसिक और भौतिक वस्तुओं का महायोग मात्र से भिन्न एक महान् तत्त्व है।

मनुष्य का सच्चा स्वरूप :- सभी समस्याओं का भौतिक प्रश्न यह है कि वह कुछ अधिक क्या है जो मनुष्य के सच्चे स्वरूप को प्रकट कर उसे सच्चा मनुष्य बनाता है। यदि इस समस्या का समाधान हो जाये तो हम मानव-व्यक्तित्व की तह तक पहुँच जायेंगे और अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त कर लेंगे। तब हम स्वयं को मूल स्रोत के साथ एकीभूत कर पायेंगे तथा हमारा जीवन सचमुच मूल्यवान एवं सार्थक हो जायेगा।

यदि हम अपने मन का गहराई से निरीक्षण करें तो पायेंगे कि हमारे मन की हजारों इच्छाओं में तीन इच्छाएँ प्रमुख हैं।

(अ) जीने की इच्छा (ब) जानने की इच्छा

(स) सुख और आनन्द की इच्छा

(अ) जीने की इच्छा :- हममें से कोई भी व्यक्ति मरना नहीं चाहता। सदैव जीवित रहने की हमारे अन्दर स्वाभाविक इच्छा है। दूसरों की मृत्यु के बारे में हम सोचते हैं किन्तु हम यह नहीं सोचते कि हमें भी एक दिन मरना होगा। महाभारत में एक रोचक कथा है - जब यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा कि संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि दिन-रात लोग मरते जा रहे हैं किन्तु जो जीवित हैं वे अनन्त काल तक जीने की इच्छा रख रहे हैं। यह हमें दर्शाता है कि मनुष्य में अनन्त काल तक जीने की शाश्वत इच्छा है। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि फिर बहुत से लोग आत्महत्या क्यों करते हैं ? इसका उत्तर पाने के लिये हमें आत्महत्या के कारणों की गहराई में जाना होगा और उन परिस्थितियों का गहराई से अध्ययन करना होगा। ऐसी स्थिति में प्रायः हम पाते हैं कि जो लोग आत्महत्या करना चाहते हैं या जिन्होने आत्महत्या कर ली है, वे लोग ऐसी स्थितियों में रहना नहीं चाहते थे जिनमें उन्हें रहने के लिए बाध्य होना पड़ता है। उनके जीवित रहने की शर्तें कठिन थीं तथा अधिकांश मामलों में तो बाधाएँ काल्पनिक थीं। यदि वे वांछित वस्तुएँ पा गए होते या उनकी इच्छानुसार उन परिस्थितियों को बदल दिया जाता तो वे कभी आत्महत्या न करते। वास्तव में वे आत्महत्या नहीं करना चाहते थे, बल्कि वे अवांछित परिस्थितियों से छुटकारा पाना चाहते थे, जिनके लिये उनके पास आत्महत्या के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। जीने की लालसा उनमें भी उतनी ही तीव्र और गहन थी जितनी की एक आम आदमी में होती है।

(ब) जानने की इच्छा - मैं तुम लोगों के समक्ष बोल रहा हूँ। तुम्हारे और मेरे बीच में यदि एक काला पर्दा होता जो कि मुझे पूर्णरूप से छुपा रखता, तो तुममें से प्रत्येक वक्ता का चेहरा देखने के लिये उत्सुक रहते। यह वक्ता को देखने की इच्छा तुम्हारी भाषण सुनने की एकाग्रता को भंग कर देती है। जानने की इच्छा मानव-स्वभाव में ओतप्रोत है। मनुष्य से जो कुछ भी छिपा हुआ है उसे वह जान लेना चाहता है। प्रत्येक वस्तु जिससे वह परिचित है उसका रहस्य जानना चाहता है। वह हर वस्तु का कारण जानना चाहता है। जब तक हम उस वस्तु को नहीं जान लेते जिसे हम जानना चाहते हैं, हमारा मन चचल बना रहता है और हम दुखी रहते हैं। जैसे ही हमारे मन में ज्ञान का उदय होता है और हम वस्तु को जान लेते हैं, हम सन्तोष का अनुभव करते हैं। यदि हम एक शिशु के व्यवहार पर दृष्टि डालें, तो पायेंगे कि वह प्रत्येक वस्तु को अपने मुँह में डालता है। क्योंकि उस अवस्था में दूसरी इन्द्रियों की अपेक्षा जीभ ही उसके पास एक ऐसी इन्द्रिय है जिससे वह वस्तु समझ सकता है। क्योंकि दूसरी इन्द्रियाँ उतनी विकसित नहीं हुई होतीं। जब बच्चा थोड़ा और बड़ा होता है। तब वह अपने खिलौनों का विच्छेदन करता है, कागज फाड़ता है, खिलौने तोड़ता है और जानना चाहता है कि उनके अन्दर क्या है, तथा उसके अन्दर देखता है। जब वही बच्चा बोलना सीख जाता है तब उसे दिखने वाली प्रत्येक वस्तु को जानने के लिये सैकड़ों प्रश्न पूछता है। जब वह बच्चा परिपक्व मनुष्य होकर पढ़ता, लिखता एवं ज्ञान प्राप्ति के अनेकों साधन अपनाता है तब वह अपने चारों ओर के संसार के बारे में अधिकाधिक जानने को ज्ञान के साधनों को उपयोग में लाने का सतत प्रयत्न करता है।

विज्ञान एवं तकनीकी के चमत्कार, जिन्हें हम अपने चारों ओर देखते हैं। संसार के मधुर तथा उदात्त साहित्य, काम, महान् दार्शनिकों एवं विचारकों की प्रगल्भ रचानायें ये सभी इस बात के प्रमाण हैं कि मनुष्य में ज्ञान के प्रति अदम्य पिपासा है। वस्तुतः मनुष्य के पास आज जो भी ज्ञान है उसे उसकी इस पिपासा ने ही उसे प्रदान किया है। भविष्य में भी उसे जो ज्ञान प्राप्त होना है वह भी इसी पिपासा से प्राप्त होगा। इससे यह ज्ञात होता है कि ज्ञान की पिपासा हमारे अस्तित्व में ओतप्रोत है।

(स) सुख और आनन्द की इच्छा - हममें से प्रत्येक मनुष्य सुख और आनन्द चाहता है। हम ससार का मजा लेना चाहते हैं। क्यों? यह इसलिये कि सुख में आनन्द और शान्ति देता है। बहुत से लोग देश-विदेश की यात्रा करते हैं। क्यों? क्योंकि इस घुमने या यात्रा करने से उन्हें आनन्द-प्राप्ति होती है। बहुत से लोग विभिन्न प्रकार की कलाएँ जैसे संगीत, कला, रेखाचित्र, नृत्यकला, वाद्य-वादन, नाटक आदि का अभ्यास

(शेष अगले पृष्ठ पर)

आत्माराम की आत्मकथा (१५)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। डॉ. डी. भट्टाचार्य कृत इसके हिन्दी अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमशः प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

जोशीमठ से हनुमान चट्टी

इसके बाद पुन: आगे चला। जोशीमठ पहुँचते ही फिर उन दक्षिणी भाइयों से भेंट हुई। उन्हीं के आयोजन से वहाँ क्षेत्र में आहार आदि करके अकेले ही आगे चल पड़ा। उस दिन संध्या के कुछ समय पूर्व हनुमान चट्टी पहुँचा और वहीं पर रात बिताने का निश्चय किया। मैनेजर सज्जन आदमी थे, उन्होंने अपने कमरे में ही मेरा आसन कर दिया और रात में खाने को दूध-रोटी भी दिया।

बैठकर बातें कर रहा था, तभी एक अच्छी हृष्ट-पुष्ट मजबूत, चतुर नेत्रोंवाली स्त्री-यात्री भोजन आदि करके बद्रीनाथ के लिए रवाना होने लगी। मैनेजर ने कहा – "चट्टी का जो तवा लिया था, उसे वापस करती जाओ।" उसने वह तवा सीधे चट्टी से नहीं, बल्कि एक अन्य यात्री के हाथ से लिया था। वह बोली कि उसने चट्टी के नहीं, अपने तवे पर रोटियाँ बनायी हैं। मैनेजर ने उससे तवा दिखाने को कहा। परन्तु वह इसके लिए बिल्कुल भी राजी नहीं हुई। बल्कि उसने अपने को चोर बताने के इस निकृष्ट प्रयास के विरुद्ध अपनी जानकारी के सारे बीभत्स शब्दों के साथ प्रतिवाद किया। संध्या हो चली थी, यह देख, अनिच्छा के बावजूद मैं बीच में पड़कर बोला – "ये लोग जब सन्देह कर रहे हैं, तो बेकार वाद-विवाद न करके तवा दिखा देने से ही तो हो जाता। यदि वह तुम्हारा अपना होगा, तो ये लोग कोई उसे छीन तो नहीं लेंगे। और तुम इस बदनामी से भी बच जाओगी। तीर्थ में आयी हो, छोटी-सी बात के लिए क्यों बदनामी मोल लेती हो। उपस्थित अन्य यात्रियों ने भी इस बात पर सहमति व्यक्त की। मैनेजर ने कहा – "तुम्हारा अपमान करना चाहूँ, तो मैं बलपूर्वक अभी देख सकता हूँ। वह व्यक्ति तुम्हें दिखाकर मुझे कह गया था कि उसने तवा तुमको दिया है। वह तो काली कमलीवाले का तवा है, मेरा नहीं, मैं तो केवल उन लोगों का कर्मचारी हूँ। यहाँ के सभी बर्तनों पर नाम लिखा रहता है। यदि तवे पर यहाँ का नाम नहीं होगा, तो वह तुम्हारा मानेंगे। सीधे मन से दिखा दो।"

इस पर वह महिला नाराज होकर नाच-कूदकर गाली देते हुए चली गयी, परन्तु तवा नहीं दिखाया। मैनेजर ने कहा – "स्वामीजी, आपको क्या लगता है? तवा अवश्य उसी के पास है।" मैं बोला – "हाँ, उसका रंग-ढंग देखकर तो ऐसा ही लग रहा है, पर वह एक महिला है। पाँच आने के एक साधारण तवे के लिए ज्यादा कुछ न करके आपने उचित ही किया है।" तभी देखा कि वह फिर लौटकर चली आ रही है। सभी सोच रहे थे कि वह फिर क्यों आयी है? कुछ नया होनेवाला है क्या? गंगाजल का एक डिब्बा खूँटी से लटक रहा था, वह भूल से उसे छोड़ गयी थी। और वही उसका

पिछले पृष्ठ का शेषांश

करते हैं। क्यों? क्योंकि उन्हें अपनी कला से आनन्द मिलता है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो स्वेच्छा से कठिनाइयों को स्वीकार कर ऊँचे पर्वतों पर चढ़ने का या अफ्रीका या संसार के अन्य भागों के गहन जंगलों में घूमना इत्यादि करते हैं।

आप पूछ सकते हैं कि क्या ये सब कार्य आनन्ददायक हैं? मित्रो! परन्तु यदि आप इसका गहराई से निरीक्षण करें और समझने का प्रयत्न करें तो पायेंगे कि ये वीर अपने साहसिक कार्यों से अद्भुत आनन्द पाते हैं। और तो और जो दूसरों को कष्ट देते हैं, वे पशु-मानव जो मनुष्य की हत्या करते हैं या मनुष्य को अपंग कर देते हैं, वे अपने इस जघन्य कृत्य से आनन्द पाते हैं। यद्यपि ये सब विकृतियाँ हैं और आनन्द-प्राप्ति के अनुचित साधन हैं जो कि अन्ततः दुखदायी ही होते हैं।

ऐसे भी लोग जो दूसरों के लिये अपना सब कुछ घर-द्वार, धन-दौलत, सुख-सुविधा, नाम-यश न्यौछावर कर देते हैं। ऐसे कुछ महान् पुरुष भी होते हैं, जिन्होंने दूसरों का जीवन बचाने के लिये अपने जीवन की बलि दे दी। ऐसे असंख्य दृष्टान्त हैं जिसमें लोगों ने अपने गुर्दे जैसे अति महत्त्वपूर्ण अंगों को बिना किसी प्रतिदान की इच्छा के दूसरों को दान दे उनका जीवन बचाया है। क्या वे मनुष्य नहीं थे जो अपना सब कुछ त्यागने में आनन्द का अनुभव करते हैं? वस्तुतः वही वे लोग हैं जो सर्वाधिक सुखी थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि सुख की इच्छा भी हमारे व्यक्तित्व में ओतप्रोत है। ❖ (क्रमशः) ❖

काल सिद्ध हुआ। गंगाजल ने उसके 'पाप' को प्रकट करके उसे पवित्र कर दिया। उसके आते ही मैनेजर ने उसे पकड़ा – "पोटली खोलकर तवा दिखाती जाओ, नहीं तो तुम्हें पुलिस के हवाले करूँगा।" तो भी वह खोल नहीं रही थी। आखिरकार सभी लोग इस पर जोर देने लगे, उसे घेरकर जिद करने लगे – दिखाना ही होगा। आखिरकार उसे बाध्य होकर दिखाना पड़ा। सचमुच ही वह काली कमलीवाले का ही तवा था। चोरी का था। उसके भाग्य के दोष से ठीक तभी पुलिस भी आ पहुँची। परन्तु इतना सब हो जाने पर भी वह अपना दोष मानने को राजी न थी। "नाम होने से ही क्या उनका हो जायेगा। इसे तो वह व्यक्ति मुझे दे गया है" – आदि मूर्खतापूर्ण तर्क देने लगी। जरा भी दबने को तैयार न थी। यही देखने की बात थी। सभी इस विषय में आश्चर्यचकित हुए। पुलिस ने पूछताछ करके जान लिया कि वह कटक जिले की उड़िया थी। चालान बनते देख वह रो पड़ी, परन्तु तो भी दोष के भय से नहीं। कहने लगी – "असहाय स्त्री देखकर सभी मिलकर मुझे पुलिस में दे रहे हो।"

सुनकर सभी हँसने लगे। मुझे भी हँसी आ गयी। अन्त में लगा – "इसका दिमाग ठीक नहीं है। क्योंकि पागल हुए बिना क्या कोई ऐसा कर सकता है, अत: इसे छोड़ देना चाहिये। सामान तो मिल गया है, इसे जाने दो" – मेरा यह अनुरोध मैनेजर ने मान लिया। पुलिस ने भी उसे छोड़ दिया। हे भगवान! तीर्थ करने आकर भी आदमी यह सब क्या करता है! पुराना स्वभाव जाग उठता है। मौका मिलते ही व्यक्ति उद्देश्य, स्थान, काल, पात्र – सब भुला देता है!

बद्रीनाथ में

अगले दिन सुबह बद्रीनाथ के लिए रवाना हुआ। रास्ता अच्छा था। केवल एक जगह बर्फ थी। आकाश खूब साफ था। बद्री-नारायण पहुँचकर पहले गरम कुण्ड में स्नान किया और फिर दर्शन करने गया। मूर्ति को फूल-मालाओं से इतना सजाया था कि श्रीमुख के अलावा अन्य कुछ भी नहीं दीख रहा था। खूब अनुभव हुआ कि स्थान का प्रभाव है। फिर रहने के लिए स्थान ढूँढ़ने गया। पहले बाबा काली-कमलीवाले के क्षेत्र और फिर धर्मशाला में गया। मैनेजर ऋषिकेश से ही परिचित थे, अत: रहने तथा आहार में कोई भी असुविधा नहीं हुई। मैनेजर के आग्रह से मैं वहाँ करीब आठ-नौ दिन रहा। एक अन्य मकान में रहता और भिक्षा क्षेत्र में करता था।

जिस दिन वहाँ पहुँचा, उसी दिन क्षेत्र में एक अमेरिकन से मुलाकात हुई। वह गेरुआ वस्त्र धारण किये था और सिर पर पगड़ी थी। भ्रम हुआ कि Salvation Army के हैं। बाद में मैनेजर ने बतलाया कि वे रामकृष्ण मिशन के हैं और स्वामी विवेकानन्द के अनुयायी हैं। मैं किस संस्था का हूँ – यह बात मैनेजर को ज्ञात नहीं थी, क्योंकि विशेष आवश्यकता के बिना मैं अपना परिचय नहीं देता था। अन्य साधुओं की भाँति ही रहता था। भिक्षा या कोई अन्य सुविधा पाने के लिए – 'रामकृष्ण मठ या मिशन का हूँ' – कहने से मुझे लज्जा का बोध होता था, अब भी होता है। इसीलिए अन्य संन्यासियों की भाँति ही सर्वत्र जाता हूँ और एक साधारण संन्यासी के रूप में ही रहता हूँ। वैसे जहाँ भी रहता हूँ, मैं ठाकुर और स्वामीजी का ही कार्य करता हूँ, उन्हीं के बारे में बोलता हूँ और प्रचार आदि के द्वारा यथासाध्य प्रयास करता हूँ कि लोगों में उनके प्रति श्रद्धाभाव का उदय हो और वे उनके विचारों तथा गुणों की प्रशंसा करना सीखें।

इस सन्दर्भ में यहाँ पर, बाद में हुई एक घटना का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। १९२६ ई. में कन्याकुमारी गया और वहाँ त्रिवेन्द्रम-राज्य की धर्मशाला में दस-बारह दिन था। उसी रियासत के एक सेवानिवृत्त उच्चपदस्थ अधिकारी भी वहाँ एक माह पूर्व से स्वास्थ्य सुधारने की आशा में आये हुए थे। वे मेरे साथ नित्य धर्मचर्चा करते। वे श्रीरामकृष्ण तथा स्वामीजी के बारे में ही बोलते, मैं भी बोलता। उन्होंने पूज्य स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज के दर्शन किये थे। और उनसे दीक्षा न लेने के बावजूद पति-पत्नी दोनों की उनके प्रति गुरुवत् श्रद्धा थी। भ्रमण के दौरान मैं सर्वदा अपनी वेशभूषा आदि अन्य संन्यासियों के समान ही रखता हूँ, इसलिए मेरा चाल-चलन देखकर उन्हें कभी सन्देह ही नहीं हुआ कि मैं रामकृष्ण मिशन में दीक्षित हूँ। और उन्होंने संन्यासी से परिचय न पूछना ही उचित समझा।

चार-पाँच दिन दूर से मुझे देखने के बाद उन्होंने स्वयं ही मुझसे परिचय किया और वह भी भिक्षा-सम्बन्धी समस्या के प्रसंग में। घटना इस प्रकार हुई – मेरे लिए जो भिक्षा लाया करता था, वह ब्राह्मण बालक उस दिन किसी कार्यवश एक बज जाने पर भी नहीं आया। मैं दिन में एक ही बार भोजन करता हूँ, यह बात इन्हें उससे मालूम हो गयी थी। वहाँ पर मैं सबेरे केवल थोड़ी-सी काफी और इडली या वैसा ही कुछ खाया करता था। उस दिन लड़का वह भी नहीं दे गया। एक बजा देख उन्होंने स्वयं ही आकर मुझसे पूछा – "आपका खाना अब तक आया क्यों नहीं?" उनका कमरा मेरे कमरे के सामने ही था। और वहीं से वे मेरी सारी गतिविधियाँ देखा करते थे। मैंने कारण बताया। तब उन्होंने मेरे लिए इडली तथा काफी की व्यवस्था की थी।

बर्तन आदि सब साफ करके काफी बना दिया था। मेरे काफी पीते समय खूब कहा – हमारे द्वारा बनायी हुई इडली क्या चलेगी? मेरे 'हाँ' कहने पर उन्होंने गरम-गरम इडलियाँ और चटनी दी। जब उसे खा रहा था, तो देखा कि दम्पति के नेत्र छलछला आये हैं। मैंने सोचा – मेरे भूख का कष्ट

देखकर उनकी आँखों में आँसू आ गये हैं, परन्तु वे बोले – जीवन में पहली बार मेरी पत्नी एक संन्यासी को खिला रही है। इस अंचल में संन्यासी लोग हमारे हाथ का अन्न ग्रहण नहीं करते, आदि।'' उसके बाद से प्रतिदिन सुबह वही लोग मुझे इडली-काफी खिलाते। उस ब्राह्मण को उन लोगों ने मना कर दिया था। ये लोग पिल्लै जाति के क्षत्रिय थे या फिर इन्हें सत्शूद्र भी कहा जा सकता है। तो भी इतना भेद ! क्या इसीलिए हमारे लोग दल-के-दल ईसाई होते जा रहे हैं !

और उनकी पत्नी बोली – ''कोई कष्ट होने पर पहले से ही बता दीजियेगा। हम लोगों के साथ ही आपका भी थोड़ा-बहुत भोजन हो जायेगा।'' उसी दिन पहली बार बातचीत हुई थी। उसके बाद सुबह, दोपहर और शाम को, अधिकांशत: धर्म के विषय में ही तरह-तरह की चर्चाएँ होतीं।

एक दिन त्रिवेन्द्रम के आश्रम से तुलसी महाराज (स्वामी निर्मलानन्द) के दो संन्यासी तथा ३-४ गृही शिष्य कन्याकुमारी -दर्शन करने आये। मेरे साथ उनमें से किसी का भी परिचय नहीं था और उन लोगों को यह भी नहीं ज्ञात था कि संघ के कोई संन्यासी उधर भ्रमण कर रहे हैं। सभी श्री पिल्लै के ही मेहमान होकर ठहरे। भोजन आदि के उपरान्त श्री पिल्लै उन लोगों को साथ लेकर मुझसे परिचय तथा बातें कराने मेरे कमरे में आये। तुलसी महाराज के शिष्य निरंजनानन्द (ये स्वयं भी केरल के थे) ढाई घण्टे तक विविध विषयों पर बातें करने के बाद अन्त में कह उठे – ''लगता है कि आपका और हमारा मत एक ही है। साधारणत: संन्यासियों में ऐसा उदार भाव नहीं दिखता। विशेषकर दक्षिणी के संन्यासी अनुदार ही हुआ करते हैं। केवल जो लोग रामकृष्ण-विवेकानन्द के प्रति श्रद्धाभाव रखते हैं, वे ही दूसरों के प्रति उदारता दिखाते हैं – धर्म आदि के मामले में इस अंचल में ब्राह्मण-अब्राह्मण प्रश्न के विषय में। हमें आपके साथ बातें करके बड़ी प्रसन्नता हुई। त्रिवेन्द्रम आने पर हम लोगों के आश्रम में ठहरेंगे, हमें खूब आनन्द होगा। परिचय तो हो गया, अब क्या हम आपका गुरुस्थान जान सकते हैं?''

मैं – ''अवश्य। जो आपका है, वही मेरा भी है।''

सभी लोग थोड़ी देर के लिए आश्चर्यचकित और स्तम्भित रह गये। इसके बाद निरंजनानन्द 'हो-हो' कर हँसते हुए मुझे जकड़कर बोले – ''आप हमीं लोगों के हैं? तो भी हम सभी को आपने अच्छा ठगा है ! जब आपने पूछा कि क्या हम तुलसी महाराज को पहचानते हैं? तभी मन में थोड़ा-सा सन्देह तो हुआ था, परन्तु मिशन के साधु के रूप में आपका परिचय मिल जाने के बाद ही उस बात का सत्यापन हुआ। यही सोचकर वह प्रश्न किया था। अच्छा, आपने शुरू में ही परिचय क्यों नहीं दिया?''

श्री पिल्लै विस्मय से मुख खोले मेरी ओर देख रहे थे। वे बोले – ''इतने दिनों के परिचय के बावजूद मैंने एक बार भी इन पर सन्देह नहीं किया। कितने आश्चर्य की बात है ! आप हमारे अपने हैं और इस प्रकार कष्टपूर्वक खाना कर रहे हैं। इसमें दोष मेरा ही है। आपको कोई सामान्य साधु समझकर मैंने ही तो आपका परिचय नहीं पूछा। आपसे भी अन्याय हुआ है, क्योंकि आपको भी बताना उचित था।'' मैंने कहा – ''मुझे साधारण व्यक्ति की भाँति ऐसे ही Incognito (अज्ञात) रहना पसन्द है। साधारण संन्यासी को जो सम्मान आदि प्राप्य है, उसी को पाकर मैं तृप्त महसूस करता हूँ। परिचय देकर सुविधा लेना पसन्द नहीं करता। इसके अलावा परिचय देने से कोई-कोई सोचेंगे कि मैं अमुक संघ या पंथ का हूँ, तो वे दिल खोलकर बातें नहीं करेंगे। कुछ बातें छोड़कर और कुछ को छिपाकर बातें करेंगे। और ऐसे ही अज्ञात रहने पर – मिशन के विरुद्ध भी कुछ कहने को हुआ, तो कहेंगे। मेरे जीवन में ऐसी अनेक घटनाएँ हुई हैं। मैंने जिन स्थानों पर अमुक-अमुक विषयों पर एक निरपेक्ष व्यक्ति की दृष्टि से जो उत्तर दिया, वे कभी जान ही न सके कि मेरा मिशन से कोई नाता भी है। इससे मुझे जो आनन्द मिलता है, उसे आप थोड़ी कल्पना करने से ही समझ सकेंगे।''

स्वामी निरंजनानन्द – ''कल्पना की जरूरत ही क्या है? प्रत्यक्ष ही तो देख रहा हूँ।'' उनके साथ वागीश्वरानन्द जी भी थे। पर वरिष्ठ होने से बातें निरंजनानन्द ही कर रहे थे।

उसके बाद से ही श्री पिल्लै तथा उनकी गृहिणी मेरा खूब ख्याल रखते और बीच-बीच में दोनों इस घटना का उल्लेख करके हँसते और कहते – ''हूँ, तो आपने सोचा था कि रामकृष्ण की सन्तान होकर रामकृष्ण की सन्तानों को धोखा देंगे, भगवान क्या ऐसा होने देंगे। पकड़वा दिया कि नहीं?''

अब पहले की बातों पर आते हैं। मैंने मैनेजर से और कुछ कहे बिना ही, शाम को उस अमेरिकी से भेंट होते ही बातें शुरू कीं – ''कितने दिनों से इन पहाड़ों में घूम रहे हैं? भारत कब आये? किस मत में दीक्षित हैं? और किस आश्रम के हैं? आदि आदि।'' अन्तिम प्रश्न के उत्तर में उन्होंने बताया कि वे अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द के दर्शन कर चुके हैं और उन्हीं का अनुसरण करते हुए किसी से दीक्षा नहीं ली। सिद्ध योगी की तलाश में दो-तीन महीने से पहाड़ों में घूम रहे हैं। मैंने पूछा – ''क्या कभी आप रामकृष्ण संघ के आश्रम में भी रहे हैं?'' उत्तर मिला – ''नहीं, परन्तु कलकत्ते में बेलूड़ मठ देखा है और वहाँ एक दिन ठहरा भी हूँ। उन्होंने मेरे साथ बहुत ही अच्छा व्यवहार किया था। मैं योग सीखना चाहता हूँ, सिद्ध-योगी देखना चाहता हूँ। विवेकानन्द का राजयोग पढ़कर सोचा था कि वहाँ योग-क्रिया सिखाई जाती होगी और शायद कोई सिद्ध-योगी भी

होंगे, लेकिन पता चला कि वहाँ राजयोग के सामान्य ध्यान आदि के अलावा कुछ नहीं सिखाया जाता है और न ही वहाँ कोई योगसिद्ध है। इसीलिए ऋषिकेश आया। वहाँ योगीन्द्र योगानन्द नामक एक बंगाली योगी हैं। शहर से दो मील दूर गंगा के किनारे रहते हैं। यहाँ आने से पूर्व उन्हीं के पास 'आसन' सीखा था और प्राणायाम के प्राथमिक साधना भी करता था। उन्होंने कहा है कि वे योग की सभी क्रियाएँ जानते हैं और मुझे सिखायेंगे भी। उनके पास सुना था कि इधर महान् सिद्धयोगी रहते हैं और थियॉसॉफी की पुस्तकों में पढ़ा था और उन लोगों से सुना भी था कि इधर अद्भुत शक्ति-सम्पन्न सिद्धयोगी रहते हैं। इसीलिए उन्हें ढूँढने आया हूँ, लेकिन जैसा नीचे था, वैसा ही यहाँ भी हैं। दुर्भाग्यवश अभी तक ऐसे किसी भी सिद्ध के दर्शन नहीं हुए हैं। जिसे देखता हूँ, उसी से पूछता हूँ। लोग तरह-तरह की बातें कहते हैं। कई बार ऐसे सिद्ध की बात सुनकर बड़ा कष्ट उठाकर उन्हें देखने भी गया हूँ। पर जाकर देखता हूँ कि वे योग-शास्त्र को मुझसे अधिक नहीं जानते, वे बस हठयोग की दो-चार क्रियाएँ मात्र करते हैं। अधिकांश प्रायः ऐसे ही होते हैं, कोई सच्चा सिद्ध नहीं है। और वस्तुतः कोई भी इसे पूरी तौर से नहीं जानता। कहानियाँ ही ज्यादा हैं। अच्छा, आप क्या किसी ऐसे सिद्ध को जानते हैं?''

मैंने कहा – ''नहीं। आप जिस तरह का सिद्ध ढूँढ रहे हैं, वैसा मैं किसी को नहीं जानता और अधिकांश मामलों में योग-शास्त्र से अनभिज्ञ लोग बड़ी-बड़ी बातें करते हैं और कभी-कभी अपनी काल्पनिक शक्ति का परिचय के रूप में कुछ कहानियाँ सुनाकर लोगों को भ्रम में डालते हैं। और 'कहानियाँ ही ज्यादा हैं' – यह बात आपकी बिल्कुल सत्य है। मैं भी बहुत दिनों से पहाड़ों में घूम रहा हूँ। कइयों के साथ भेंट भी हुई है, लेकिन जैसा योगसिद्ध आप चाहते हैं, वैसा नहीं देखा। उसके जानने में एक कठिनाई है, जो याद रखनी चाहिए – सचमुच के अच्छे योगी इतने निरहंकारी होते हैं कि अपनी शक्ति का परिचय नहीं देते और बहुधा ऐसे रहते हैं कि पता ही नहीं चलता कि वे सिद्ध योगी हैं। हम लोग तो भीतर में किसमें सूक्ष्म शक्ति है और किसमें नहीं, यह देख या जान तो पाते नहीं, कोई यदि स्वयं व्यक्त न करे, तो केवल कुछ बाह्य लक्षण देखकर सर्वदा ज्ञानानुभूति की गहराई को जानना सम्भव नहीं होता। प्रायः असम्भव ही है। अतः इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु, अपनी खोज जारी रखनी चाहिए। ढूँढते-ढूँढते एक दिन सम्भव है कि रत्न ही हाथ लग जाय।''

अमेरिकी बोला – ''हाँ, आपने ठीक कहा है। धन्यवाद। यदि ऋषीकेश आये, तो फिर मुलाकात होगी, तब इस विषय पर और भी चर्चा करेंगे। योगीन्द्र और मेरी एक योजना है – यहाँ एक बड़ी जमीन लेकर योग की वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार छोटी-छोटी कुटियाँ बनाना और सभी देशों के लोगों के लिए योग का एक कॉलेज बनाना। उनका खाना, पहनना और रहना – सब योगशास्त्र के अनुसार होगा। इतने वर्षों के नियमित पाठ्यक्रम के अन्त में प्रमाणपत्र भी दिया जायेगा। खर्च खूब कम रखना होगा, ताकि सभी रह सकें। प्रारम्भ में सौ से अधिक छात्र नहीं रखेंगे। अच्छा, उस विषय में बाकी चर्चा ऋषिकेश में मुलाकात होने पर करेंगे, नमस्कार।''

मैं समझ गया कि 'विवेकानन्द के अनुयायी' के रूप में परिचय देने के कारण ही मैनेजर को ऐसा भ्रम हुआ है। और मेरा परिचय न जानने के कारण मिशन में सम्मिलित न होने का कारण भी उन्होंने स्पष्ट रूप से बताया। मैनेजर को यदि मेरे रामकृष्ण मिशन का होने की बात ज्ञात होती, तो उन्हें मेरा परिचय बता देते और तब शायद वे मेरे साथ इतने खुले दिल से बातें नहीं करते।

शरीर काफी दुर्बल हो गया था और आँव के कारण कष्ट भी हो रहा था। अतः अब देर न करके ऋषिकेश या उसके पास ही किसी समुचित भिक्षा की सुविधावाले स्थान में जाकर कुछ दिन स्थिर रहने का निश्चय करके बद्रीनाथ को बारम्बार नमस्कार करके चल पड़ा – 'जय बद्रीनाथ'।

❖ (क्रमशः) ❖

भविष्य का धर्म

भविष्य के धार्मिक आदर्शों को समस्त धर्मों में जो कुछ भी सुन्दर और महत्वपूर्ण है, उन सबको समेटकर चलना पड़ेगा और साथ ही भाव-विकास के लिए अनन्त क्षेत्र प्रदान करना होगा। अतीत में जो कुछ भी सुन्दर रहा है, उसे जीवित रखना होगा और साथ ही वर्तमान के भण्डार को और भी समृद्ध बनाने के लिए भविष्य का विकासद्वार भी खुला रखना होगा। धर्म को ग्रहणशील होना चाहिए और धर्म सम्बन्धी अपने आदर्शों में भिन्नता के कारण एक दूसरे का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। ... ईश्वर सम्बन्धी सभी सिद्धान्त – सगुण, निगुण, अनन्त नैतिक नियम अथवा आदर्श मानवधर्म की परिभाषा के अन्तर्गत आने चाहिए। और जब धर्म इतने उदार बन जाएँगे, तब उनकी कल्याणकारिणी शक्ति सैकड़ों गुना अधिक हो जाएगी। धर्मों में अद्भुत शक्ति है; पर इनकी संकीर्णताओं के कारण इनसे कल्याण की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई है। – *स्वामी विवेकानन्द*

उपनिषदों के विश्व-प्रचारक – अंकेतिल दुपेरन

नवीन दीक्षित, इन्दौर

(स्वामी विवेकानन्द जी ने १८९४ ई. में अमेरिका के न्यूयार्क नगर में एक वेदान्त समिति की स्थापना की थी। उसके वर्तमान संचालक स्वामी तथागतानन्द जी ने उपनिषदों के विश्वव्यापी प्रचार-प्रसार का इतिहास संकलित करके आंग्ल भाषा में उक्त विषय पर एक विशाल तथा अनुपम ग्रन्थ की रचना की है, जिसका शीर्षक है – The journey of the Upanishads to the West (उपनिषदों की पश्चिम-यात्रा)। प्रस्तुत है उसी ग्रन्थ के आधार पर 'विवेक-ज्योति' के लिए इन्दौर के श्री नवीन दीक्षित द्वारा लिखित महत्त्वपूर्ण जानकारियों से युक्त यह लेख। – सं.)

मुगल बादशाह शाहजहाँ (१५९२-१६६६) के बड़े पुत्र दारा शिकोह ने १६५६ ई. में पहली बार उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद किया। १६४० ई. में कश्मीर में रहते समय उसने पहली बार उनके बारे में सुना। १६५६-५७ में अपने दिल्ली-निवास के दौरान बनारस के पण्डितों की सहायता से उसने 'सिर्रे अकबर' नाम से ५० उपनिषदों का अनुवाद किया। १६७१ ई. में फ्रांसीसी यात्री फ्रैंकोस बर्नियर उसकी एक प्रतिलिपि फ्रांस ले गया। बर्नियर तथा एक अन्य फ्रांसीसी यात्री जीन बप्तिस्ता टैवर्नियर के यात्रा-विवरण १६८४ ई. में अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित हुए, जिससे यूरोपवासियों को भारत के मुगल-साम्राज्य के बारे में काफी जानकारी मिली। परन्तु किसी यूरोपीय भाषा में वहाँ उपनिषदों को पहुँचने में और भी करीब एक सदी लग गया, जब एक अन्य साहसी फ्रांसीसी यात्री अंकेतिल दुपेरन भारत की आध्यात्मिक सम्पदा की खोज में पूरब की ओर रवाना हुआ।

परवर्ती काल में अंकेतिल दुपेरन ने लिखा – "वृद्धावस्था की ठण्डक शीघ्र ही मेरी शिराओं में रक्त को जमा देगी। परन्तु मुझे कम-से-कम इस बात का सन्तोष तो रहेगा ही कि मैं भारत को यूरोप से जुड़ा हुआ देखने की आशा के साथ अपनी कब्र में जा रहा हूँ। मनुष्य के लिए व्यापार की क्षुद्र वस्तुओं की तुलना में मनों तथा विचारों के बीच सम्बन्ध तथा संचार कहीं अधिक बेहतर है। अब तक केवल सोना, चाँदी, जवाहरात, वस्त्र तथा मसाले ही इन दो महाद्वीपों (यूरोप तथा एशिया) को जोड़े हुए थे। परन्तु अब मैं यह कहते हुए खुशी से मर सकूँगा कि भारतवासी हमें प्यार करेंगे।"

मेधावी फ्रांसीसी धर्माचार्य अब्राहम ह्यासिन्थ अंकेतिल दुपेरन अपनी शताब्दी के सर्वाधिक प्रतिष्ठित भाषाविद् थे। उनका जीवन एक ऐसे युवक की कहानी है, जिसने अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए अपना सब कुछ दाँव पर लगा दिया था। फ्रांसीसी, जर्मन तथा अंग्रेजी के अलावा वे यूरोप की और भी कई भाषाएँ जानते थे। उन्हें फारसी तथा संस्कृत का भी अच्छा ज्ञान था। उनके पूर्व किसी भी यूरोपवासी ने न तो भारत की इतनी विशद यात्रा की थी और न यहाँ की संस्कृति का इतना गहन अध्ययन ही किया था। मूल जेन्द-अवेस्ता की खोज के साथ ही उन्होंने उपनिषदों का फ्रांसीसी तथा लैटिन भाषाओं में जो अनुवाद (१८०१-०२) किया, वह भारत की अन्तरात्मा को जानने के इच्छुक पश्चिमी विद्वानों के लिए एक सतत प्रेरणा का केन्द्र बन गया।

इस प्रकार अंकेतिल ने मानवीय ज्ञान के इतिहास में एक नवयुग का सूत्रपात किया। यूनानियों तथा रोमनों की भारत में रुचि व्यापारिक एवं राजनैतिक कारणों से थी। भारत में आने वाली मिशनरियों का उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार करके मात्र धर्मान्तरण कराना ही था। परन्तु अंकेतिल का हृदय भारत के गूढ़ तथा पवित्र ज्ञान से पूर्ण ग्रन्थों को हासिल करने की तीव्र लालसा से छटपटा रहा था। वह भारत की प्राचीन संस्कृति व दुर्लभ ग्रंथों से फ्रांस को समृद्ध करने का इच्छुक था।

अंकेतिल दुपेरन ने पहले सोरबोन में धर्मशास्त्र की शिक्षा ग्रहण की। फिर १७५१-५२ ई. में हिब्रू व अरबी भाषाओं का अध्ययन करने के लिए उन्हें हालैंड भेजा गया। १७५२ में पेरिस लौटकर उन्होंने बिबिलिओथिक ड्यू रोइ के संग्रह से प्राच्य-पाण्डुलिपियों का अध्ययन आरम्भ किया। उन दिनों यूरोप में भारतीय भाषाएँ अज्ञात थीं। प्राच्यविद्या के प्रशंसकों ने उन्हें इनके अध्ययन के लिए प्रेरित किया। १७५४ में पेरिस में ही उन्हें *वेंडीडैड साडे* की प्रतिलिपि के चार पन्ने मिले। ये जार्ज बोरशियर को १७१८ में सूरत में प्राप्त हुए, फिर १७२७ में रिचार्ड कोबे द्वारा यूरोप लाये गये और अन्तत: उन्हें ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में रख दिया गया था। इन पृष्ठों का प्राप्त होना अंकेतिल के जीवन का एक महान् क्षण था, क्योंकि उन्होंने तत्काल उसे पढ़ने का संकल्प किया। इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के बाद उन्हें लगा कि इस कार्य में सहायता प्राप्त करने हेतु उन्हें भारत जाना होगा। वे अपने खर्च पर इस यात्रा पर जाने में असमर्थ थे। अत: वे फ्रांसीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी में एक निजी सैनिक के रूप में भर्ती हो गये। युद्ध के लिए मुक्त किये गये कैदियों के एक बर्बर समूह के साथ ७ नवम्बर, १७५४ को उन्होंने पेरिस से प्रस्थान किया। अंकेतिल की निष्ठा के रूप में उन्हें जहाज की मुफ्त यात्रा, कप्तान की मेज के पास कुर्सी और एक निजी केबिन मिली। दो कमीजें, दो रूमाल, एक जोड़ी मोजे, ज्यामितीय यंत्रों का एक डिब्बा और हिब्रू भाषा में एक बाइबिल – ये ही उनकी कुल सम्पत्ति थी। जहाज छूटने के बाद उन्हें पता चला कि फ्रांस के राजा ने उनके लिए ५०० पौंड का अनुदान स्वीकृत किया है।

छह महीने की कठिन यात्रा के बाद १० अगस्त, १७५५ ई. को बचे-खुचे यात्री पांडिचेरी पहुँचे। अंकेतिल तत्काल अपने कार्य में जुट गये। वे तेजी से भारतीय तथा फारसी भाषाएँ सीखने लगे। भारत में हो रहे युद्धों ने उनकी यात्राओं को लम्बा और खतरनाक बना दिया था। बंगाल के चंदननगर से वृत्तीय मार्ग अपनाते हुए, कोरोमण्डल तथा केरलीय तट के रास्ते, उन्होंने सूरत की ओर यात्रा की। वे प्राय: घोड़े पर, कभी-कभी पैदल और कभी नाव से यात्रा करते। अंकेतिल ने मन्दिरों तथा कारखानों को देखा और भारत का गहराई से अध्ययन किया। भारतीय ज्ञान में पैठने की इच्छा से उन्होंने भारतीय वेशभूषा अपनाई। अपनी महाबलीपुरम् तथा पुरी की यात्रा का विवरण लिखनेवाले वे पहले यूरोपीय थे। सूरत पहुँचकर उन्होंने अवेस्ता तथा अन्य ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ प्राप्त कीं। उनसे उन्होंने पहलवी-फारसी शब्दकोश का संकलन किया। १६ जून, १७५९ ई. को उन्होंने *वेंडीडैड साडे* का फ्रांसीसी अनुवाद पूरा किया। १७५८-६० के सूरत के ये दो साल उनके जीवन के स्वर्णिम दिन थे। इसी दौरान उन्होंने अपनी पहचान छुपाकर, सूरत के एक पारसी मन्दिर में प्रवेश करके उनके कर्मकाण्डों तथा आचारों की अधिक जानकारी प्राप्त की। पारसी विद्वानों के विरोध, सतत कठिनाइयों, धोखे, षड्यंत्रों, अस्वस्थता तथा अन्य बाधाओं के बावजूद, उनके द्वारा सम्पन्न अदभुत कार्य, बिबिलिओथिक इंटरनेशनेल में संरक्षित है। इस दौरान उन्होंने अवेस्ता की प्रतिलेखन, अनुवादों तथा टिप्पणियों के रूप में अपने हाथ से लगभग २५०० पृष्ठ लिखे थे।

अवेस्ता के अनुवाद पूरा करने के बाद अंकेतिल ने निश्चय किया कि वे संस्कृत सीखकर वेदों को पढ़ेंगे। उन्होंने सूरत, अहमदाबाद तथा आसपास के स्थानों से वेदों की पाण्डुलिपियाँ एकत्र कीं और साथ ही अमरकोश, व्याकरण और नाममाला – नामक संस्कृत के तीन प्रसिद्ध ग्रन्थ भी प्राप्त किये। उन्होंने विभिन्न भारतीय भाषाओं की कुल १८० से अधिक पाण्डुलिपियाँ और सात फारसी शब्दकोश एकत्र किये थे। इसके अलावा उन्होंने भारतीय अन्न, फूल, पत्तियाँ और अन्य प्राकृतिक नमूने भी एकत्र किये। १५ मार्च १७६१ को सूरत से उनकी वापसी यात्रा शुरू हुई। १७ नवम्बर को वे इंग्लैंड के पोर्टमाउथ पहुँचे, जहाँ उन्हें युद्धबन्दी बना लिया गया। वे १७६२ की जनवरी में मुक्त हुए। १७७१ में पेरिस से तीन खण्डों में उनका अवेस्ता का फ्रांसीसी अनुवाद मुद्रित हुआ और साथ ही उनकी दीर्घ-पोषित योजना पूरी हुई। किसी पश्चिमी भाषा में प्रकाशित यह प्रथम एशियाई धर्मग्रन्थ था।

फैजाबाद में शुजाउद्दौला के दरबार में रहनेवाले अंकेतिल के एक फ्रांसीसी मित्र इमिले जिंटिल ने १७७५ ई. में उन्हें उपनिषदों के वे फारसी अनुवाद दिये। ये मुगल शाहजादा दारा शिकोह द्वारा 'सिर्रे-अकबर' नाम से १६५६ ई. में संस्कृत से भाषान्तरित हुए थे। १८ मार्च १७८७ को उन्होंने चार उपनिषदों का फ्रांसीसी भाषा में अनुवाद किया और उसका प्रकाशन भी कराया। परन्तु १७९६ में उन्होंने इसका फारसी से लैटिन भाषा में और भी स्पष्ट व प्रामाणिक अनुवाद पूर्ण किया। यह स्ट्रासबर्ग से १८०१-०२ में 'औपनेखट ओऊ थिओलोजिआ एट फिलोसोफिया' नाम से दो भागों में प्रकाशित हुआ। किसी भी पश्चिमी भाषा में उपनिषदों का यह प्रथम अनुवाद था। इसी ने भारत को सर्वप्रथम पश्चिम से जोड़ा। युद्धरत फ्रांस के एक दुछत्ती कक्ष में ४० वर्षों के समर्पित श्रम के उपरान्त यह महान् कार्य सम्पन्न हुआ। अंकेतिल आजीवन निर्धन ही रहे। इस अनुवाद को भारतीय ऋषियों के नाम समर्पित करते हुए, उन्होंने अपने अन्तिम दिनों की भीषण निर्धनता का स्वयं ही चित्रण किया है –

"भारत के ऋषियों को अंकेतिल का प्रणाम !! हे ऋषियो ! आप अपने जैसे ही भाव के इस व्यक्ति के कार्य को तुच्छ न समझें। कृपया सुनें कि मैं कैसे रहता हूँ। पावरोटी, थोड़ा-सा दूध, मक्खन और कुँए का पानी – यही मेरा दैनिक भोजन है, जिसकी कीमत चार *सोउस* – भारतीय रुपये के बारहवें भाग से भी कम है। जाड़ों में मैं अंगीठी की आग, गद्दे और चादरों की सुविधा से भी वंचित हूँ। नियमित आमदनी के बिना, प्रेमरहित, बेरोजगारी के रूप में मैंने जो कष्ट सहे हैं, वे मेरी इस वृद्धावस्था के अनुकूल नहीं हैं। मैं अपनी साहित्यिक कृतियों की आय पर निर्धनता में गुजारा करता हूँ – पत्नीविहीन, पुत्ररहित, सेवकहीन, सभी सांसारिक वस्तुओं से वंचित, बिल्कुल अकेला, मगर पूर्णत: स्वतंत्र। मैं अथक भाव से उन सर्वोच्च और पूर्ण ईश्वर की आकांक्षा करता हूँ। मैं मन की पूर्ण शान्ति के साथ इस देह के विलय होने की राह देखता हूँ, जिसमें अब अधिक विलम्ब नहीं रह गया है।

बाद में यूरोप के सभी प्राच्य विद्या विशारदों, दार्शनिकों, चिन्तकों व साहित्यकारों ने इस अनुवाद कार्य से प्रेरणा ली। जर्मनी में प्राच्य-विद्या-विशारद मैक्समूलर, ड्रेसडेन तथा डायसन और फ्रांस में लेनॉर्ट, फॉउकर व सिलवेन लेवी ने उनके कार्य को आगे बढ़ाया। उनके अनुवाद के प्रबल प्रभाव के कारण ही, शीलिंग, शॉपनहॉवर और नित्शे के दर्शनों में भारतीय दर्शन की अनुगूँज सुनाई दी। अमेरिकन साहित्य के अतीन्द्रिय भावधारा के प्रवर्तकों, विशेषकर इमर्सन पर इसका स्पष्ट प्रभाव हुआ। अब भारत के धर्म-दर्शन और संस्कृति में आशा की किरणें खोजी जाने लगीं। यही अंकेतिल की मनोकामना थी। और क्या भारतीय ऋषियों ने उनकी पुकार सुनी? क्या भारतीयों का प्यार उन्हें मिला? हाँ, उनकी पुकार व्यर्थ नहीं गई। आधुनिक भारतीय ऋषि स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें 'फ्रांसीसी युवक' के रूप में सस्नेह याद किया है। ❑

— जीवन्मुक्त का गीत —

स्वामी विवेकानन्द कृत

(१६ फरवरी १८९५ ई. को न्यूयार्क में आंग्ल भाषा में रचित और २३ दिसम्बर १८९८ को देवघर से श्रीमती मृणालिनी बसु के नाम लिखित पत्र में उद्धृत - वि.सा. ७/३६०-६१। इस कविता का हिन्दी रूपान्तर स्वामी विदेहात्मानन्द ने किया है। – सं.)

अगर हुआ आघात सर्प पर, फन फैलाकर झपटे,
ढँकी आग को अगर कुरेदो, निकल पड़ेंगी लपटें।

सिंह-हृदय यदि विद्ध हुआ, तो क्रुद्ध गुँजाता नभ को,
मेघ-वक्ष हो तड़ित्-विद्ध, प्लावित कर देता थल को ।।

जब आन्दोलित हो उठता, अन्तस्तल महत् जनों का,
होता है प्राकट्य तभी, उनके अति श्रेष्ठ गुणों का।

जब आँखें धुँधली हो जाती, हृदय मन्द हो जाता,
जब मैत्री हो विफल, और प्रेमी धोखा दे जाता ।।

भाग्य विमुख हो, जब जीवन में, अगणित संकट लाता,
छा जाता जब घोर अँधेरा, मार्ग रुद्ध हो जाता।

प्रकृति खड़ी हो तुम्हें कुचलने, धरे भयंकर रूप,
तब भी जानो, हे मम आत्मा, तुम हो दिव्य-स्वरूप ।।

आगे-ही-आगे तुम बढ़ना, जब तक मिले न छोर,
दायीं-बायीं ओर न देखो, चलो लक्ष्य की ओर ।।

नहीं देवता या मानव मैं, अथवा जन्तु अगेह,
नर भी नहीं, न मादा हूँ मैं, और न मन या देह ।।

मम स्वरूप वर्णन करने में, शास्त्र चकित औ मौन,
'सोऽहम्' – वही ब्रह्म हूँ मैं, मुझको समझेगा कौन !!

सूर्य-चन्द्रमा औ पृथ्वी भी, जब न हुए थे सृष्ट,
ग्रह-तारे औ धूमकेतु भी, होते थे ना दृष्ट ।।

जब जग में जन्मा ही न था, समय-चक्र या काल,
तब भी था, हूँ आज, रहूँगा आगे भी चिर-काल ।।

मधुमय धरती, महिमामय रवि, शीतल चन्द्र-प्रकाश,
और चमकता क्षितिजों तक, सुन्दर सुनील आकाश ।।

संचालित हो रहे सभी, कारण-नियमों से बद्ध,
सक्रिय रहते बद्ध रूप में, मिटते भी आबद्ध ।।

मन-विराट् इन सब पर फेंके, अपना स्वप्निल जाल,
उन्हें फँसाकर पकड़े रहता, अच्छी तरह सँभाल ।।

चिन्तन के तानों-बानों में, बँधे हुए हैं ये सब,
पृथ्वी, नरक, स्वर्ग हो चाहे, उत्तम और अधम सब ।।

स्थान-कालमय और कार्य-कारणमय यह संसार,
इन सबको तुम बाह्य आवरण, समझो – चिर निःसार ।।

मैं हूँ सभी इन्द्रियों के, औ मन-चिन्तन के पार,
मैं हूँ केवल द्रष्टा – साक्षी, पर सबका आधार ।।

नहीं द्वैत मैं, ना अनेक, अद्वैत एक मैं तत्त्व,
इसीलिए मुझसे अभिन्न, होता सबका अस्तित्व ।।[१]

द्वेष करूँ कैसे मैं निज से, कैसे त्यागूँ निज को !
इतना ही बस कर सकता हूँ, तन्मय प्रेम सभी को ।।

अब इन सपनों से जागो औ, सारे बन्धन त्यागो,
इस रहस्य से डरो न तुम, अन्यत्र कहीं मत भागो ।।

क्या भयभीत कर सके तुमको, अपनी ही परछाईं,
जानो 'सोऽहम्' – वही तत्त्व मैं, सदा-सर्वदा भाई ।।

ॐ तत् सत् ॐ

१. अत: सभी मुझमें स्थित हैं, बचता नहीं निजत्व।
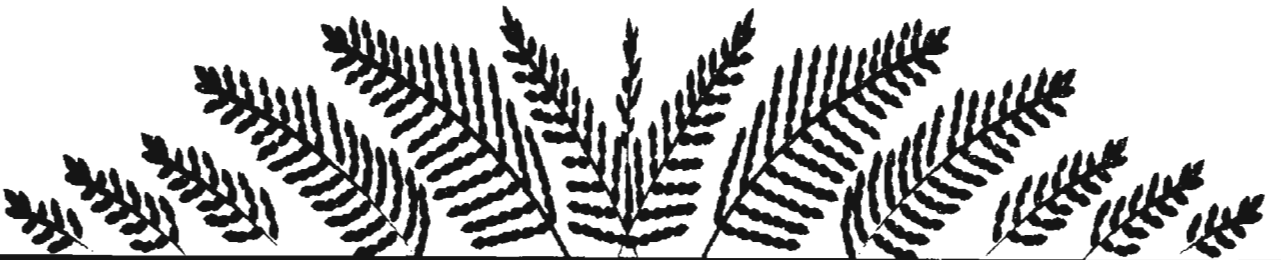
हिन्दू धर्म की रूपरेखा (१२)

स्वामी निर्वेदानन्द

(प्राचीन काल में वैदिक या सनातन धर्म और वर्तमान में हिन्दू धर्म के रूप में प्रचलित धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और विश्व के अन्य धर्मों से इसमें क्या समानता व भेद है, इसे समझ पाना हिन्दुओं के लिए भी अति आवश्यक है। विद्वान् लेखक ने अपने बँगला तथा अंग्रेजी ग्रन्थ में इस धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सहज निरूपण किया है। उसका हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

कर्मयोग

कौरव-पाण्डवों के बीच होनेवाले महाभारत के पूर्व कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में भगवान कृष्ण ने पाण्डव-शिरोमणि वीर अर्जुन के रथ को रोककर उन्हें दोनों सेनाओं के निरीक्षण का अवसर प्रदान किया। रथ पर आरूढ़ अर्जुन ने चारों ओर दृष्टि फिराकर देखा कि दोनों ही ओर से उनके सगे-सम्बन्धी ही हथियारों से लैश होकर इस भयंकर युद्ध में कूद पड़ने को उद्यत हैं।

इस दृश्य ने उनके हृदय को विचलित कर दिया। सगे-सम्बन्धियों तथा गुरुजनों के प्राण लेने की कल्पना तक उनके लिए पीड़ादायी थी। इस नृशंस कार्य में वे भला कैसे भाग ले सकेंगे? लोभ तथा ईर्ष्या से अन्धे होकर यदि विपक्षी युद्ध करना चाहें तो करें, पर उनके लिए इस अमानुषिक कार्य में भाग लेना असम्भव था। युद्ध में विजय, खोये हुए राज्य की प्राप्ति, और यहाँ तक कि स्वर्ग का इन्द्रत्व भी उन्हें ऐसे युद्ध के लिये प्रेरित नहीं कर सकता था। इस लोक या परलोक की किसी भी वस्तु के लिए वे ऐसे गर्हित कार्य में भाग लेने को तैयार न थे। अपने स्वजनों के साथ युद्ध करने के विचार मात्र से ही उनकी अन्तरात्मा विद्रोह कर उठी और युद्ध से विमुख होकर उन्होंने श्रीकृष्ण से रथ लौटाने को कहा।

पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन की उस बात पर ध्यान नहीं दिया। उल्टे उन्होंने अर्जुन पर ही आक्षेप करते हुए कहा कि उनके लिए अपनी मानसिक दुर्बलता के समक्ष आत्म-समर्पण कर देना उचित नहीं है। कहा कि वे मोह के आवेश में ही ऐसी बातें कर रहे हैं और भ्रमवश भावुकता को ही आध्यात्मिकता समझ बैठे हैं। कहा कि एक सुसंस्कृत आर्य होने के नाते उनके मन में ऐसा भ्रम अनुचित है और इस कारण उनका ऐसा आचरण बड़ा ही अशोभनीय है। इससे उनकी वीरता की कीर्ति चली जायेगी और उनके लिए स्वर्ग का द्वार भी अवरुद्ध हो जायेगा। ऐसे धर्मयुद्ध में भाग लेना तो क्षत्रिय का अनिवार्य कर्तव्य है – यही तो उनके धर्म का आदेश था। शास्त्र-विहित क्षत्रिय-धर्म का पालन करना ही तो उनके लिए स्वधर्म था और इस स्वधर्म को छोड़कर एक तपस्वी ब्राह्मण की भाँति वन की शरण लेना उनके लिए अनैतिक था।

इस कथन ने अर्जुन को और भी विभ्रमित कर दिया। इस युद्ध की अपरिहार्य निर्दयता तथा अनैतिकता को स्वीकार कर पाना उन्हें असम्भव प्रतीत हुआ। उन्होंने श्रीकृष्ण को स्पष्ट रूप से बता दिया कि उन्हें इहलोक या परलोक की किसी भी वस्तु की कामना नहीं है; कीर्ति या स्वर्ग की प्राप्ति के लिए भी वे लालायित नहीं हैं। क्षत्रिय-धर्म के पालन के ये ही तो फल हैं, पर इनके लिए उनके मन में कोई आकांक्षा नहीं है। वे श्रेयकामी हैं, पूर्णता के अभिलाषी हैं। जीवन के इस लक्ष्य के साथ क्या सम्बन्धियों एवं आचार्यों की हत्या का तालमेल बैठाया जा सकता है? श्रेयलाभ और यह नृशंस कार्य क्या परस्पर-विरोधी नहीं हैं? यही उनकी समस्या थी और जब तक इसका समाधान न हो, तब तक उनके लिए युद्ध में जुटना सम्भव नहीं था। इसीलिए उन्होंने विह्वल हृदय के साथ अपने सखा व सारथी भगवान श्रीकृष्ण से करुण प्रार्थना की कि वे उनका इन दोनों संकटों से उद्धार करें।

इसी दृश्य के साथ हिन्दुओं के सर्वाधिक लोकप्रिय धर्म-ग्रन्थ 'भगवद्-गीता' का प्रादुर्भाव होता है। भगवान श्रीकृष्ण ने वैदिक ऋषियों द्वारा अनुभूत महान् आध्यात्मिक सत्यों का दिव्य उपदेश देकर किस प्रकार अर्जुन की शंका को मिटाया, यही इसके परवर्ती अध्यायों में लिपिबद्ध हुआ है।

इन उपदेशों में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि किस प्रकार एक गृहस्थ भी बिना संसार का त्याग किये ही साधना के चरम पथ – निवृत्ति-मार्ग को अपना सकता है। किस प्रकार वह गृहस्थ जीवन के सारे कर्तव्यों का पालन करते हुए भी सरलतापूर्वक श्रेयरूप अपने अन्तिम लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकता है। कोई कर्तव्य चाहे कितना भी घृण्य या अरुचिकर क्यों न प्रतीत हो, आध्यात्मिक जीवन की प्रगति में बाधक नहीं होता। कर्म के स्वरूप पर नहीं, अपितु किस मनोभाव से उसे किया जा रहा है, इसी पर उसकी पारमार्थिक सफलता निर्भर करती है। गृहस्थाश्रम में रहते हुए कर्म सम्पन्न करने की एक विशेष पद्धति है, जिससे मन क्रमश: पवित्र होकर परमार्थ-लाभ के उपयुक्त हो सकता है।

इसी पद्धति को कर्मयोग कहते हैं। यही गीता में निबद्ध भगवान श्रीकृष्ण के उपदेशों का मूल विषय है। गीता में वे कहते हैं – प्राचीन राजर्षि इस योग के तत्त्व को जानते थे, परन्तु दीर्घ काल के व्यवधान से लोग इसे भूल गये हैं। ऐसी विस्मृति स्वाभाविक ही थी, क्योंकि जिस महाज्ञान की सहायता से इस आपात-विरोधी व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक जीवन का समन्वय हो सकता है, उसकी व्यक्ति आसानी से धारणा

नहीं कर सकता। अस्तु, भगवान श्रीकृष्ण ने अनेक युगों से विस्मृत परमार्थ-साधन-रूप कर्मयोग को पुन: स्थापित किया।

यद्यपि भगवान श्रीकृष्ण ने मोक्षलाभ के सभी साधनों को सत्य बताया है और ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि प्रमुख मार्गों की विस्तृत व्याख्या भी की है, तथापि उन्होंने कर्मयोग पर विशेष बल दिया है। कर्मयोग के स्वरूप का विस्तार से वर्णन करते हुए उन्होंने स्पष्ट रूप से समझा दिया है कि यह योग युक्ति की नींव पर प्रतिष्ठित है। कर्मयोग पर इस प्रकार बल देने का कारण यह है कि अर्जुन की समस्याओं का समाधान इस कर्मयोग के द्वारा ही सम्भव था। अपने सम्बन्धियों के साथ युद्ध करने के जिस मार्मिक कर्तव्य को अर्जुन टालना चाहते थे, वह भी कर्मयोगी के लिए एक फलप्रसू महत्त्वपूर्ण साधना में परिणत हो सकता है।

वस्तुत: कर्मयोग सांसारिक कर्मों को साधना में परिणत करने की एक अद्भुत प्रक्रिया है – **योग: कर्मसु कौशलम्** (२/५०)। इस प्रक्रिया से कर्म का स्वरूप बिल्कुल बदल जाता है। कर्म का यह स्वभाव ही है कि वह इहलोक या परलोक में सुखों या दुखों के रूप में अवश्यम्भावी फल की सृष्टि करता है। इसलिए हमारा प्रत्येक कर्म मानो हमारे संसार-शृंखल में एक कड़ी जोड़कर उसकी लम्बाई में वृद्धि करता है। यही कर्म का अमोघ विधान है। इससे बचने का कोई स्वाभाविक उपाय नहीं है। परन्तु कर्मयोग के उपाय से कर्म के मूल स्वभाव रूप इस फलोत्पत्ति का लोप हो जाता है। कर्म तब बाँझ हो जाते हैं। योग में स्थित होकर कर्म बन्धन के कारण की जगह मुक्ति में सहायक हो जाते हैं। तब कर्म वास्तविक रूप से साधना में रूपान्तरित हो जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि जिस योग के प्रभाव से ऐसा अद्भुत रूपान्तर होता है, वह योग क्या चीज है? सभी अवस्थाओं में मन को समान रूप से निष्कम्प बनाये रखना ही योग है। गीता (२/४८) में योग की यही परिभाषा दी गयी है – **समत्वं योग उच्यते**। इस योग का विधान यह है कि कोई भी कर्म करते समय यह देखना होगा कि उसकी फलाकांक्षा से मन अधीर न हो उठे। कर्तव्य-बोध से कार्य करना ही विधि है। कर्मफल के रूप में लाभ-हानि, जय-पराजय चाहे जो भी हो, निर्विकार-भाव से उसे स्वीकार करना होगा (२/३८)। मन की इस सम अवस्था को योग कहते हैं। जो व्यक्ति मन की समता को बनाये रखकर सारे कर्तव्यों का पालन करता है, वही कर्मयोगी है।

अब हम कर्मयोग की आधारभूत युक्ति को देखें –

वैदिक धर्म की मूल बात यह है कि इस विश्व की प्रातिभासिक विविधता के पीछे अखण्ड परमात्मा स्थित हैं और इसलिए मनुष्य भी स्वरूपत: दिव्य तथा अविनाशी है। केवल एक अद्वितीय ब्रह्म का ही अस्तित्व है। परन्तु अपनी दृष्टि के भ्रम से हम असंख्य जड़ तथा चेतन पदार्थों से निर्मित एक वैचित्र्यमय जगत् को देखते हैं। भ्रमवश हम सोचते हैं कि हममें से प्रत्येक वास्तविक कर्ता तथा भोक्ता है, यद्यपि कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व वस्तुत: केवल विश्वशक्ति रूप प्रकृति में ही है (३/२७)। ईश्वर की दैवी माया में मुग्ध होने के कारण ही यह सर्वांगीण भ्रम हमारे लिए स्वभावगत हो गया है। इस माया के पार जाना बड़ा ही दुरूह कार्य है (७/१४)।

जब तक हम माया के वशीभूत रहेंगे, तब तक हम विश्व को एक सत्ता की जगह अनेक तथा वैचित्र्यमय देखते हैं, और तब तक इसी दृष्टिकोण के अनुसार हमारा व्यवहार नियंत्रित करना होगा। यदि हमें पीड़ा का अनुभव होता है, तो हम दूसरों को भी पीड़ा नहीं देंगे। चेतना के इस स्तर पर हमें सर्वदा भले तथा बुरे कर्मों के भेद के विषय में सजग रहना होगा। पर साथ ही हमें यह जान रखना होगा कि ये भेद मात्र आपेक्षिक हैं। वैदिक धर्म के मतानुसार अध्यात्म-भूमि के सर्वोच्च शिखर से ये भेद दृष्टिगोचर नहीं होते, क्योंकि भले-बुरे सभी कर्म प्रकृति द्वारा ही सम्पन्न किये जाते हैं।

वस्तुत: आध्यात्मिक जीवन की परम अवस्था की उपलब्धि किये हुए व्यक्ति का दृष्टिकोण ही बदल जाता है। वे जगत् को पूर्णत: भिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं। वे जगत् को वास्तव में ब्रह्ममय देखते हैं और ब्रह्म के साथ अपनी आत्मा की अभिन्नता का अनुभव करते हैं। उन्हें सृष्टि के तात्पर्य का बोध हो जाता है और इसे ईश्वरीय इच्छा का खेल समझकर वे इसका रसास्वादन करते हैं। सुख-दुख, स्वास्थ्य-रोग, जीवन-मृत्यु, प्रशंसा-निन्दा आदि सभी भली-बुरी घटनाओं तथा वस्तुओं के पीछे वे उस ईश्वरीय लीला को ही देखते हैं। अपने आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर वे प्रत्येक वस्तु को ईश्वर की ही अभिव्यक्ति के रूप में देखते हैं। आत्मज्ञान का उदय होने पर पाप-पुण्य का भेद भी लुप्त हो जाता है। आत्मा न कर्ता है और न भोक्ता। और इसमें किसी प्रकार का विकार होना भी असम्भव है। अत: आत्मा भला कैसे किसी को मारेगी या किसी के द्वारा मारी जायेगी? (गीता, २/१९)

आत्मा में प्रतिष्ठित ज्ञानी व्यक्ति का दृष्टिकोण ऐसा ही हो जाता है। आत्मा स्वयं पूर्ण है, इसीलिए आत्मद्रष्टा की कोई भी अभिलाषा अपूर्ण नहीं रह जाती। कामना का झोंका उनके मन को क्षण भर के लिए भी विचलित नहीं कर पाता। मन की सभी कामनाओं से पूर्णरूपेण मुक्त हुए स्थितप्रज्ञ महापुरुष आत्मा के स्वरूपगत आनन्द में विभोर रहते हैं (२/५५)। आसक्ति, भय या क्रोध से पूर्णत: मुक्त उनका मन न तो सुख की स्पृहा करता है और न दुख में उद्विग्न ही होता है। उनके मार्ग में भला-बुरा जो भी आये, उसे वे शान्तभाव से स्वीकार करते हैं। वे न तो प्रिय वस्तु का सोल्लास स्वागत करते हैं और न अप्रिय को अभिशाप ही देते हैं। उनका मन परम

स्थिरता तथा शान्ति में प्रतिष्ठित होता है।

अपनी आत्मा तथा विश्व में अन्तर्निहित महान् तत्त्व की अनुभूति कर लेने के फलस्वरूप ही ज्ञानी महापुरुषों के लिए ऐसा अमानवीय आचरण कर पाना सम्भव होता है। ऐसे लोकोत्तर आचरण तथा तत्त्वबोध के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध होता है। इसीलिए ऐसे आदर्श आचरण के सश्रद्ध अनुकरण से तत्त्वज्ञान तथा उसके फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। यही कर्मयोग की यौक्तिक नींव है। गृहस्थ-जीवन के सारे सम्बन्धों तथा कर्तव्यों की उपेक्षा न करके साधक सभी अवस्थाओं में निरन्तर अपने मन की समता बनाये रखने का प्रयास करेगा। उसे 'चरम कर्मठता के बीच भी सतत शान्ति' के लक्ष्य तक पहुँचना होगा। इसी को कर्मयोग कहते हैं।

इस प्रकार कर्मयोग के दो अंग हैं – (१) सक्रियता और (२) चित्त की शान्ति। कर्मयोगी के कर्म में अदम्य उद्यम और मन में निष्कम्प स्थिरता होनी चाहिए। ऊपर से एक ही व्यक्ति में इन दोनों का समावेश असम्भव प्रतीत होता है। कर्म-व्यस्तता के बीच भी चित्त को स्थिर रख पाना क्या सम्भव है? यह बात तो समझ में आती है कि जप-ध्यान, पूजा-प्रार्थना आदि कर्म मन की स्थिरता के अनुकूल हैं। पर जागतिक कर्म तो बिल्कुल भिन्न प्रकार के कर्म हैं। क्या ये मन को विक्षिप्त करके उसका साम्य भाव नष्ट नहीं कर देंगे? नहीं, वैसा नहीं होता। क्योंकि मन के विक्षेप का कारण कर्म नहीं है। बल्कि कर्म-सम्पादन के लिए भी एकाग्रता की जरूरत पड़ती है। अत: कर्म मन की एकाग्रता में सहायक होता है। वस्तुत: हमारे चित्त-विक्षेप का कारण कर्म नहीं, अपितु कुछ और है। फल की कामना ही वह कारण है। हम कर्म का फल चाहते हैं और इसीलिए मन चंचल होता है। यदि हम कर्मफल की इच्छा त्याग सकें, तो हजारों कर्म भी हमारे चित्त को विचलित नहीं कर सकते। बल्कि उलटे प्रत्येक निष्काम क्रिया चित्त की स्थिरता, पवित्रता तथा दृष्टि की प्रखरता में वृद्धि करती है और केवल इसी प्रकार के कर्म के परिणाम-स्वरूप तत्त्वज्ञान और चिर मुक्ति प्राप्त होती है।

सामान्यत: हम कुछ पाने की इच्छा से ही कर्म करते हैं। फल की आकांक्षा से प्रेरित होकर ही मानो हम कर्म का बीज बोते हैं। अब यदि हम इस आकांक्षा को त्याग दें, तो फिर हम किस प्रेरणा से कर्म करेंगे? इससे क्या हम तमस् या आलस्य में नहीं डूब जायेंगे? नहीं, कर्मयोग निष्काम भाव के साथ ही, अपने कर्तव्य के प्रति सजग निष्ठा का भी विधान करता है। यह परम शान्ति तथा पूर्णता के पथ पर तीव्र प्रगति का एक विशेष उपाय है। अत: अध्यात्म-राज्य में अग्रसर होने का आग्रह ही हमारे लिए कर्म की प्रेरणा जुटायेगा। क्रियाशीलता तमोभाव को घटाती है और निष्काम होने की चेष्टा रजोगुण को नियंत्रित करती है। इन दोनों में जितनी ही कमी आती है, उतनी ही चित्त की स्थिरता, निर्मलता, दृष्टि की स्वच्छता आदि सात्त्विक वृत्तियाँ प्रस्फुटित होती हैं। इस प्रकार कर्मयोग साधक के चित्त को शुद्ध करके उसे आत्मज्ञान की ओर अग्रसर कराता है।

गीता के मतानुसार मन के पूर्ण साम्य अवस्था में स्थित न होने तक इसी प्रकार चित्तशुद्धि करते रहना मुमुक्षु के लिए अनिवार्य साधन है – **आरुरुक्षोः मुनेः योगं कर्म कारणम् उच्यते** (६/३)। मन के योगारूढ़ हो जाने के बाद यदि साधक की इच्छा हो, तो वह कर्मत्याग कर सकता है। क्योंकि केवल उसी अवस्था में साधक निरन्तर ईश्वरीय चेतना में विभोर रह सकता है। वैसे इस अवस्था में भी लोकहित के लिए जनक आदि ऋषियों के समान गृहस्थ-जीवन बिताया जा सकता है। अस्तु, गीता के अनुसार – सारे कर्म छोड़कर मन को पूरी तौर से साधना में लगाने के पूर्व उसे कर्मयोग की सहायता से योगस्थ होना होगा। मन की ऐसी तैयारी हुए बिना जागतिक सम्बन्धों तथा कर्तव्यों का त्याग आध्यात्मिक उन्नति में सहायक न होकर, दुख का कारण सिद्ध हो सकता है – **संन्यासः तु महाबाहो दुःखम् आप्तुम् अयोगतः** (५/६)।

तथापि कर्मयोग अनायास ही सिद्ध नहीं हो जाता। फलों की कामना को पूर्णत: त्यागना कोई सहज बात नहीं है। यहाँ तक कि इन्द्रियों के वशीभूत हो जाने और स्थूल कामनाओं के संयत हो जाने पर भी नाम-यश, मान-सम्मान आदि सूक्ष्म कामनाओं से निपटना काफी कठिन होता है। इन पर विजय पाने के लिए कठोर संघर्ष करना पड़ता है। बहुधा इन सूक्ष्म कामनाओं की उपस्थिति तक का ही आभास नहीं मिलता। वे मन के अवचेतन स्तरों में छिपी रहती हैं और उनके अस्तित्व को जान पाना लगभग असम्भव-सा हो जाता है।

तो भी, इस समस्या से निपटने का एक उपाय है। इस योग के साधक को अपनी कामनाओं के मूल उद्गम पर विचार करना होगा। जिस मूल उद्गम या कारण से कामनाओं का उदय होता है, उसे ढूँढ़कर नष्ट करना होगा। हमारी इन्द्रियाँ अपने स्वभाव से ही कुछ वस्तुओं की ओर आकृष्ट होती हैं और कुछ से दूर भागती हैं (३/३४)। चंचल इन्द्रियों के पीछे दौड़नेवाला मन आकर्षणीय वस्तु के प्रति आसक्ति उत्पन्न करता है और विकर्षणीय वस्तु के प्रति विरक्ति पैदा करता है। इस आसक्ति तथा विरक्ति से ही सभी कामनाओं की उत्पत्ति होती है। हम सर्वदा चित्त को आकर्षक लगनेवाली वस्तु को पाना और विरक्तिकारक वस्तु से बचना चाहते हैं। इसीलिए यदि कामनाओं का समूल नाश करना हो, तो जागतिक विषयों के प्रति आसक्ति तथा विरक्ति रूप हमारी जो मूलभूत प्रतिक्रिया है, उसे किसी उपाय से रोकना होगा।

(क्रमशः)
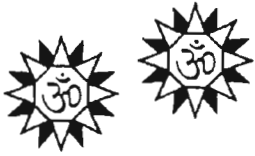
मेरी स्मृतियों में विवेकानन्द (२)

भगिनी क्रिस्टिन

(जो लोग महापुरुषों के काल में जन्म लेते हैं और उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं, वे धन्य और कृतकृत्य हो जाते हैं। भगिनी क्रिस्टिन भी एक ऐसी ही अमेरिकन महिला थीं। स्वामीजी-विषयक उनकी अविस्मरणीय स्मृतियाँ आंग्ल मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' के १९३१ के जनवरी से दिसम्बर तक, फिर १९४५ के स्वर्ण-जयन्ती विशेषांक तथा १९७८ के मार्च अंकों में प्रकाशित हुई थीं। बाद में वे 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ में संकलित हुई, वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। – सं.)

सहस्रद्वीपोद्यान के शिष्य

हमने जैसी आशा की थी, उसके पूर्व ही ऐसा हो गया, क्योंकि इसके एक वर्ष से थोड़े ही अधिक काल बाद, हमें सहस्र-द्वीपोद्यान के एक ही मकान में उनके साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। जिस दिन हमने बड़े दु:साहस के साथ उन्हें ढूँढ़ निकाला था, वह निश्चय ही ६ जुलाई १८९५ का दिन था। हमने सुना कि वे वहाँ अपने छात्रों की एक टोली के साथ निवास कर रहे हैं। अब भी 'शिष्य' शब्द का उतने उन्मुक्त रूप से उपयोग नहीं किया जाता। एक औसत व्यक्ति जितना दे सकता है, शिष्यत्व में उससे कहीं अधिक की अपेक्षा है। हमने सोचा कि कुछ सार्वजनिक व्याख्यान होंगे और हम उन्हें सुन लेंगी। हममें इससे अधिक कुछ आशा करने का साहस भी न था। श्रीमती फंकी ने स्वामीजी की 'देववाणी' पुस्तक की अपनी भूमिका में हमारी इस खोज के बारे में लिखा है।
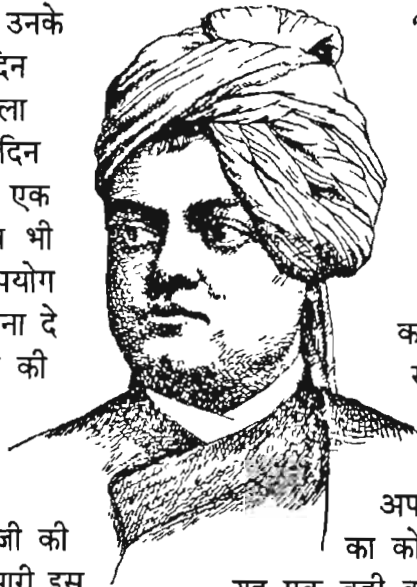
इसके बाद के अद्भुत सप्ताहों के बारे में लिख पाना बड़ा कठिन है। उन दिनों हम चेतना की जिस अवस्था में निवास करती थीं, यदि कोई उसी अवस्था में अपने मन को ले जा सके, तभी वह अनुभूति को समझने की आशा कर सकता है। हम आनन्द से परिपूर्ण थीं। उस समय हम नहीं जानती थीं कि हम उनके आलोक की परिधि में निवास कर रही हैं। प्रेरणा के पंखों पर वे हमें उन ऊँचाइयों पर ले गये, जहाँ उनका सहज आवास था। बाद में इस प्रसंग में उन्होंने स्वयं ही कहा था कि सहस्र-द्वीपोद्यान के दिनों में वे अपनी सर्वोच्च भाव में थे। उस समय उन्हें बोध हो रहा था कि उन्हें अपने सन्देश को प्रचारित करने तथा अपने लक्ष्य को पूरा करने का पथ मिल गया है, क्योंकि आचार्यदेव को अपने शिष्य मिल गये थे।

हम लोगों को मुक्ति का पथ दिखा देना, हमें मुक्त कर देना – यही उनकी पहली प्रबल आकांक्षा थी। उन्होंने बड़े ही मार्मिक भावों के साथ कहा था, "अहा, यदि मैं तुम लोगों को स्पर्श मात्र से मुक्त कर पाता।" उनकी दूसरी आकांक्षा, जो इतनी प्रत्यक्ष न होकर भी फल्गुधारा के समान भीतर-ही-भीतर प्रवाहित होती रहती थी, वह थी इस टोली को अपने अमेरिका के कार्य हेतु गढ़ लेना। वे कहते, "यह सन्देश भारत में भारतवासियों तथा अमेरिका में अमेरिकियों द्वारा प्रचारित होना चाहिए।" अपने उस छोटे-से बरामदे में, जहाँ से पेड़ों की चोटियाँ तथा सुन्दर सेंट लारेंस नदी दिख पड़ती थी, वे प्राय: ही हमसे व्याख्यान देने का अनुरोध किया करते थे। उन्होंने इसका उद्देश्य बताते हुए कहा था कि इससे हम स्वयं ही चिन्तन करना सीख जायेंगे। शायद वे जानते थे कि विश्व के श्रेष्ठ वक्ताओं में से एक माने जानेवाले स्वयं उन्हीं की उपस्थिति में यदि हम अपनी मंचभीति को जीत सके, तो फिर दुनिया का कोई भी मंच हमें भयभीत नहीं कर सकेगा। यह एक बड़ी कठिन परीक्षा हुआ करती थी। वे एक-एक कर सबसे प्रयास करने को कहते। बचने का कोई उपाय नहीं था। शायद इसी कारण कोई-कोई तो इस घनिष्ठ सांध्य गोष्ठी में उपस्थित ही नहीं होते थे, यद्यपि सभी जानते थे कि ज्यों-ज्यों रात गम्भीर होती जाती है, त्यों-त्यों वे उच्चतर भावभूमियों पर आरूढ़ होते जाते थे। भोर के दो बज जाने पर भी किसी को समय का भान नहीं रहता था। चन्द्रमा को उदित और अस्त होते देखकर भी हम परवाह नहीं करते थे। स्थान और काल का बोध हमारे लिए लुप्त हो जाता था।

ऊपर के बरामदे में होनेवाले इस निशा-सम्मेलन में कोई बँधी-बधाई व्यवस्था न थी। वे एक किनारे, द्वार के पास एक बड़ी कुर्सी में बैठते। कभी कभी वे गहरे ध्यान में डूब जाते। उस समय हम लोग भी ध्यान करते अथवा नि:शब्द बैठे रहते। कभी-कभी यह भाव घण्टों चलता और क्रमश: हम सभी उठकर चले जाते, क्योंकि हमें पता था कि ऐसी अवस्था के बाद उनमें बोलने की प्रवृत्ति नहीं रह जाती थी। या फिर थोड़े समय बाद ही उनका ध्यान भंग हो जाता और उसके बाद वे हमें प्रश्न पूछने को उत्साहित करते तथा बहुधा

हमीं में से किसी एक को उसका उत्तर देने को कहते। हमारा उत्तर चाहे कितना भी गलत होता, वे हमें उसी में भटकने देते, जब तक कि हम सत्य के निकट न पहुँच जाते, और तब कुछ ही शब्दों में वे समस्या का समाधान कर देते। यही उनके शिक्षादान की स्थिर प्रणाली थी। वे जानते थे कि किस प्रकार शिक्षार्थी के मन को उद्दीप्त करके स्वाधीन चिन्तन में लगाया जाय। यदि कभी हम अपना कोई विचार या दृष्टिकोण लेकर उनके पास अनुमोदन के लिए जाकर कहते, "मुझे यह इस प्रकार और ऐसा प्रतीत होता है" – तो वे एक ऐसे सुर में 'हाँ' कहते कि हमें और भी चिन्तन करने को उत्साह मिलता। थोड़े और भी सुलझे हुए विचार लेकर जब हम दुबारा उनके पास जाते, तो वे पुन: वही 'हाँ' हमें और भी सोचने को प्रेरित करता। सम्भवत: तीसरी बार जब हमारी चिन्तन की शक्ति उस पथ पर और अग्रसर होने में असमर्थ हो जाती, तब वे हमारी भूल की ओर इंगित कर देते – और वह भूल होती हमारे पाश्चात्य चिन्तन प्रणाली के फलस्वरूप।

और इस प्रकार उन्होंने हमें बड़े धैर्य तथा सौम्यता के साथ प्रशिक्षित किया। यह एक आशीर्वाद के समान था। बाद में भारत लौटने के बाद उन्होंने आशा की थी कि वे हिमालय में कोई स्थान लेकर अपने प्राच्य तथा पाश्चात्य शिष्यों को एक साथ प्रशिक्षण देंगे।

उस ग्रीष्मकाल में सहस्र-द्वीपोद्यान में उन्हें आवृत्त करके निवास करनेवालों का वह दल बड़ा विचित्र था। अत: इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि सर्वप्रथम वहाँ पहुँचने पर हम जिस दुकानदार से रास्ता पूछने गयी थीं, उसने कहा था, "हाँ, कुछ विचित्र से लोग उस पहाड़ी पर रहते हैं और उनमें एक विदेशी से दिखनेवाले सज्जन भी हैं।" उनमें कुमारी एस. ई. वाल्डो, कुमारी रुथ एलिस और डॉक्टर वाइट – ये तीन मित्र ऐसे थे जो स्वामीजी की न्यूयार्क की कक्षा में एक साथ आये थे। तीस वर्षों तक इन्हें दर्शन पर होनेवाले जितने भी व्याख्यानों की सूचना मिली थी, इन्होंने जाकर उन सबको सुना था, परन्तु उन्हें कभी कुछ भी ऐसा नहीं मिला जो इसके अंश की भी बराबरी कर पाता। डॉ. वाइट ने गम्भीरतापूर्वक हम नवागन्तुकों को इसी प्रकार से आश्वस्त किया। दीर्घकाल तक इन व्याख्यानों को सुनने के कारण कुमारी वाल्डो में पूरे व्याख्यान को कुछ ही वाक्यों में संक्षेपित करने की क्षमता आ गयी थी। 'देववाणी' उन्हीं का अवदान है। उसी वर्ष इंग्लैंड जाते समय स्वामीजी ने कुछ कक्षाएँ चलाने का उत्तरदायित्व कु. वाल्डो को ही सौंपा था और लौट आने के बाद भी उनकी सहायता बहुमूल्य हो गयी थी। स्वामीजी ने अपनी पतंजलि योगसूत्रों की व्याख्या उन्हें ही बोलकर लिखाया था। फिर उन्होंने ही कर्मयोग, राजयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग ग्रन्थों के प्रकाशन में भी सहायता की थी। उनकी सुलझी हुई प्रशिक्षित बुद्धि तथा अटल निष्ठा ने उन्हें स्वामीजी का एक आदर्श सहकारी बना दिया था। कुमारी रुथ एलिस न्यूयार्क के एक समाचार-पत्र के कार्यालय में काम करती थी। स्वभाव से वह अत्यन्त विनम्र तथा एकान्तप्रिय थी और शायद ही कभी बोलती थी, परन्तु सभी जानते थे कि उसकी श्रद्धा व भक्ति असीम है। वह मानो 'वयोवृद्ध डाकी वाइट' की कन्या थी। डॉक्टर वाइट को हम इसी नाम से पुकारते थे। वे सत्तर वर्ष से अधिक के होकर भी एक बालक की भाँति उत्साही तथा उत्सुक रहते थे। प्रत्येक कक्षा के अन्त में जब थोड़ा भी अवकाश मिलता, तो खर्वकाय वृद्ध 'डाकी' थोड़े झुककर अपने गंजे सिर को सहलाते हुए तीव्र नासिक्य स्वर में कहते, "तो फिर स्वामीजी, अन्तिम निष्कर्ष तो यही निकला न, कि हम सभी ब्रह्म हैं?" हम सर्वदा उनकी इस उक्ति की प्रतीक्षा करते और स्वामीजी पितृसुलभ मधुर मुस्कान के साथ उनका अनुमोदन करते। ऐसे क्षणों में उनके सत्तर वर्षों की तुलना में तीस वर्षीय स्वामीजी असंख्य वर्ष ज्येष्ठ प्रतीत होते – ज्ञानवृद्ध – प्राचीन, कालरहित, सभी युगों के ज्ञान से समृद्ध। कभी-कभी तो स्वामीजी एक लम्बी साँस लेकर कहते, "लगता है मैं तीन सौ साल का वृद्ध हूँ।"

नीचे के कमरे में स्टेला रहती थी। उसके साथ हमारी भेंट कई दिनों बाद हुई, क्योंकि जैसा हमें बताया गया था कि अपनी साधनाओं के अत्यधिक निमग्न होने के कारण कक्षाओं में आ पाना उसके लिए कदाचित् ही सम्भव हो पाता था। स्वाभाविक रूप से हमारे मन में उत्सुकता जगी। बाद में हमें काफी कुछ ज्ञात हुआ। वह एक अभिनेत्री रह चुकी थी और पुराने संस्कार इतनी आसानी से दूर नहीं होते। उसकी यह तपस्या भी कहीं एक ऐसा अभिनय तो नहीं था, जिसके द्वारा उसे अपना लुप्त सौन्दर्य तथा खोया हुआ यौवन वापस मिल जाता? सुनने में यह भले ही विस्मयजनक लगे, परन्तु अमेरिका के इन अन्धकारमय दिनों में यौवन, सौन्दर्य, स्वास्थ्य तथा समृद्धि का प्रदर्शन ही आध्यात्मिकता का मापदण्ड माना जाता था। स्वामी विवेकानन्द भला कैसे समझते कि कोई उनके उदात्त उपदेशों से भी ऐसा तात्पर्य निकाल सकता है? हम विस्मित होकर सोचते कि वे इस बात को भला कितना समझ पाते होंगे? और तब एक दिन वे बोले, "उस बच्ची को मैं बड़ा पसन्द करता हूँ। कितनी सरल है वह!" इस पर सभी मौन रहे। क्षण भर में ही उनकी पूरी भंगिमा बदल गयी और वे अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक बोले, "मैं उसे इस आशा में बच्ची कहता हूँ कि वह दिखावे तथा कपट से मुक्त होकर एक शिशु के समान हो जाय।" शायद इसी कारणवश उन्होंने बालकृष्ण गोपाल को उसे इष्ट रूप में दिया था। ग्रीष्मकाल में जब हमने एक-दूसरे से विदा ली, तब स्टेला आर्चर्ड झील के एक छोटे से द्वीप में रहने चली गयी। वहाँ उसने एक कमरे का एक छोटा-सा मकान बनवाया और

उसी में एकाकी निवास करने लगी। क्रमश: उसके बारे में अनेक अजीबोगरीब कथाएँ फैल गयीं कि वह पगड़ी पहनती है, योग नामक रहस्यमय साधना करती है, आदि आदि। योग शब्द का अर्थ कोई नहीं जानता था; वह भारत तथा अलौकिकतावाद से सम्बन्धित एक रहस्यमय विदेशी शब्द था। अखबारों के संवाददाता उसका साक्षात्कार लेने को जाया करते थे।

एक सुप्रसिद्ध लेखक अपनी सफलता के बारे में बताते हैं। पहले वे अपनी आजीविका के लिए लिफ्ट चलाने की एक नौकरी करते थे। उन्होंने पास के ही एक द्वीप में योग का अभ्यास कर रही इस युवती की कहानी लिखी। उन्होंने उसे 'डिट्राएट फ्री प्रेस' नामक समाचार-पत्र में भेज दिया। और बड़े आश्चर्य की बात कि वह स्वीकृत भी हो गयी। काफी बाद में, प्रसिद्धि-लाभ के उपरान्त उन्होंने बताया था, "उसके बाद मैंने सोचा कि मैं जो कुछ भी लिखूँगा, वह तत्काल स्वीकृत हो जायेगा।" परन्तु खेद की बात यह है कि प्रसिद्धि का मार्ग इतना सहज नहीं है। इसके लिए दीर्घ काल तक कठोर परिश्रम अपेक्षित था। कई वर्षों बाद ही उनका नाम सुप्रसिद्ध हुआ और उनकी पाण्डुलिपियाँ सम्मान की दृष्टि से देखी जाने लगीं। इस दौरान उन्होंने 'योग' शब्द का सही अर्थ समझ लिया था और भारत अब उनके लिए वह 'पुण्यभूमि' बन चुका था, जहाँ व्यक्ति सैर करने को नहीं, बल्कि तीर्थयात्रा करने जाता है। उनके पहले उपन्यास की पृष्ठभूमि मुख्यत: भारत से ही सम्बन्धित थी। कितने भावपूर्ण ढंग से तथा कितनी दुर्लभ अन्तर्दृष्टि के साथ उन्होंने उस भारतीय गाँव का वर्णन किया था, जिसमें कि उनका नायक गोधूलि के समय लौटता है! इस पुस्तक का भारतप्रेमी पाठक एक बार फिर कुछ घण्टों के लिए भारत में रह लेता है। भला कौन कह सकता है कि उनका जीवन कम-से-कम आंशिक रूप से सही, स्वामी विवेकानन्द से अनुप्राणित नहीं हुआ था, विशेषकर इसलिए कि लेखक उनके साथ व्यक्तिगत रूप से परिचित था। उन्होंने ही कहा था, "जो कोई भी स्वामी विवेकानन्द के साथ किसी भी प्रकार से जुड़े थे, उन सबमें एक विशेष ओज है।"

इस द्वीपवास के बाद स्टेला एक साधारण जीवन बिताने चली गयी थी। और तदुपरान्त कुछ माह पूर्व उसकी मृत्यु होने का समाचार आने तक हमें उसके बारे में कुछ भी पता नहीं चला था। तीस वर्षों तक वह स्वेच्छापूर्वक हम सबसे और यहाँ तक कि उनसे भी स्वयं को विच्छिन्न किये रही, जिन्होंने उसके भीतर आध्यात्मिकता का बीज बोया तथा सींचा था। कौन कह सकता है कि उस दौरान उसे जीवन में क्या मिला! हम केवल यही विश्वास कर सकते हैं कि स्वामीजी द्वारा इस प्रकार बोया गया वह बीज सार्थक रूप से फलदायी हुआ था।

फंकी के बारे में स्वामीजी कहते, "वह मुझे स्वाधीनता प्रदान करती है।" उसकी उपस्थिति में वे अपने को सर्वाधिक सहज-स्वच्छन्द अनुभव करते थे। एक अन्य समय उन्होंने कहा था, "वह बड़ी भोली है।" इस पर फंकी को बड़ा आनन्द हुआ, क्योंकि वह सर्वदा ही जी-जान से स्वामीजी के भावों के अनुसार चलने का प्रयास करती थी। हम सबकी तुलना में सम्भवत: वही उनके विश्राम की आवश्यकता का सर्वाधिक खयाल रखती थी। वह ध्यान रखती कि कहीं उनका शरीर तथा मन सर्वदा अधिक तनाव में न रहे। बाकी लोग इस चिन्ता में रहते कि कहीं उनका एक भी शब्द छूट न जाय, परन्तु वह सदा सोचती रहती कि कैसे उन्हें आनन्द में रखा जाय। वह उन्हें मजेदार कथाएँ सुनाती और बहुधा स्वयं को ही लक्ष्य बनाकर व्यंग्य-विनोद के द्वारा उनका मनोरंजन करती। स्वामीजी ने किसी से कहा था, "वह मुझे विश्रान्ति देती है।" फिर उसी व्यक्ति को फंकी ने कहा था, "मैं जानती हूँ कि वे मुझे मूर्ख समझते हैं, परन्तु इससे यदि उन्हें आनन्द मिले, तो मैं जरा भी परवाह नहीं करती।"

स्वामीजी के पास देने योग्य बहुत-कुछ होने पर भी फंकी में कुछ भी संग्रह न करने की प्रवृत्ति के कारण ही क्या उसके मन में स्वामीजी के व्यक्तित्व की यथार्थ छाप अभी तक विद्यमान है? फंकी की उत्फुल्लता, आशावादिता तथा उत्साह का भाव बाकी लोगों को स्फूर्ति प्रदान करता। उसमें असामान्य सौन्दर्य तथा मोहकता थी, अत: दूसरी दृष्टियों से भी वह कम आकर्षक नहीं थी। यहाँ तक कि अब शरीर के अक्षम हो जाने पर भी उसका वह आकर्षण बना हुआ है। स्वामीजी के बारे में चर्चा उठते ही जैसे उसके हृदय का दीप तथा मन का उत्साह आलोकित हो उठता है, वैसे किसी अन्य वस्तु से नहीं

होता। तब स्वामीजी उसके लिए जीवन्त हो उठते हैं और दूसरों को भी उनकी उपस्थिति का बोध होने लगता है। यह एक सौभाग्यपूर्ण अनुभूति है। इसमें भला किसे सन्देह हो सकता है कि जब उसका यह बोझरूप शरीर छोड़ने का समय आयेगा, तो यह अन्धकार उसके लिये आलोकित हो उठेगा और उस आलोकित परिवेश में वह एक ज्योतिर्मय व्यक्ति को देखेगी, जो उसे मुक्ति-रूप वह महान् उपहार प्रदान करेंगे।

स्वामीजी के दो अन्य शिष्यों का चुनाव सम्भवत: उनके इस सिद्धान्त के कारण हुआ था कि शक्ति के मार्गच्युत होने से कट्टरता का जन्म होता है। यदि उस शक्ति का उदात्तीकरण करके उच्चतर धाराओं में प्रवाहित किया जा सके, तो वह एक महान् कल्याणकारी वस्तु में परिणत हो जाती है। शक्ति रहनी चाहिए। वह परम आवश्यक है। मेरी लुई तथा लियो लैण्ड्सबर्ग में उन्हें अत्यधिक कट्टरता दिख पड़ी थी और उन्हें लगा कि यह सामग्री अमूल्य हो सकती है। हमारी उस छोटी-सी टोली में मेरी लुई का व्यक्तित्व ही कई दृष्टियों से वैशिष्ट्यपूर्ण था। वे लगभग ५० वर्ष की एक लम्बी तथा उग्र प्रकृति की महिला थीं और उनके चेहरे के भाव पर एक ऐसा पुरुषोचित भाव था कि कई बार भलीभाँति देखे बिना यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता था कि वे पुरुष हैं अथवा नारी। बाब्ड हेयर स्टाइल का प्रचलन होने के पूर्व के दिनों में ही उनके तार-सरीखे छोटे छोटे बाल, पुरुषोचित मुखमुद्रा, मोटी अस्थियाँ, गम्भीर आवाज तथा भारतीय पुरुषों के समान पोशाक मन में सन्देह जगाते थे। वे घोषित करतीं कि सर्वोच्च दर्शन या ज्ञानयोग ही उनकी साधना का मार्ग है। वे उग्र सुधारवादी दलों की प्रवक्ता रह चुकी थीं और उनमें विद्वत्ता तथा कुछ हद तक वाग्मिता भी थी। वे कहतीं, "मुझमें व्याख्यान की चुम्बकीय शक्ति है।" उनके अहंकार तथा व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा ने उन्हें शिष्यत्व के लिए अनुपयुक्त तथा स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित भावधारा के कार्य में अनुपयोगी बना दिया था। हम सबके पहले ही वे सहस्र-द्वीपोद्यान से चली गयीं और शीघ्र ही उन्होंने पहले कैलीफोर्निया में और तदुपरान्त वाशिंगटन में भी एक-एक स्वाधीन वेदान्त-केन्द्र की स्थापना की।

लियो लैण्ड्सबर्ग हमारी टोली के सबसे सर्वाधिक रोचक व्यक्तियों में एक तथा सबसे बड़े विद्वान् थे। रूस के एक यहूदी परिवार में उनका जन्म हुआ था और बाद में उन्होंने अमेरिकी नागरिकता स्वीकार कर ली थी। अपनी जाति के सभी महान् गुण – भावुकता, कल्पना, विद्योत्साह तथा प्रतिभा का सम्मान आदि उनमें विद्यमान थे। तीन वर्षों तक वे स्वामीजी के अविच्छेद्य संगी, मित्र, सचिव तथा सेवक बने रहे। यूरोप, उसके दर्शनों, भाषाओं तथा संस्कृति के साथ घनिष्ठ परिचय ने उनके चिन्तन में एक दुर्लभ गम्भीरता तथा परिपूर्णता ला दी थी। बातचीत में वे सरस एवं तेजस्वी थे। अपने शरीर तथा वेशभूषा के प्रति उनकी उदासीनता और निर्धनों के प्रति उनकी आवेगपूर्ण सहानुभूति को देखकर ही स्वामीजी उनकी ओर आकृष्ट हुए थे। प्राय: ही वे अपनी अन्तिम पाई तक भिखारियों को दान कर देते और वे जिस भण्डार से देते, वह भी याचक के भण्डार के समान ही शून्य रहा करता। वे न्यूयार्क के एक संवादपत्र के सम्पादकीय विभाग में काम करते थे, जिसमें उनका थोड़ा ही समय लगता और उससे आय भी अल्प ही होती थी। जब वे और स्वामीजी न्यूयार्क के ३३वें स्ट्रीट में निवास करते थे, तो उन लोगों के पास जो भी रहता, मिल-बाँटकर खर्च करते, जो कभी-कभी तो दोनों के लिए यथेष्ट होता और कभी फाँके-मस्ती भी करनी पड़ती थी। रात की कक्षा समाप्त हो जाने पर दोनों एक साथ टहलने जाते और बहुधा जेब खाली होने के कारण कम खर्चीला हल्का-सा भोजन करके अपनी दिनचर्या का समापन करते। इससे दोनों को ही कोई असुविधा नहीं थी। उन्हें पता था कि जब उन्हें धन की आवश्यकता होगी, तो वह अपने आप चला आयेगा।

लैण्ड्सबर्ग यूरोप और वहाँ के दर्शन, साहित्य तथा कला की मानो सार-प्रतिमूर्ति थे। और स्वामीजी को पुस्तक की अपेक्षा मनुष्य का अध्ययन करना कहीं अधिक पसन्द था। इसके सिवा फिर लैण्ड्सबर्ग में मानो यहूदी जाति – उसकी अतीत गरिमा तथा वर्तमान दुरवस्था दोनों – ही व्यक्त हुआ करती थी। इस मित्रता के माध्यम से मानो दो प्राचीन जातियों ने मिलकर एक सामान्य आधार ढूँढ़ निकाला था।

सहस्र-द्वीपोद्यान में सबसे पहले आने और दीक्षा प्राप्त करने वालों में लैण्ड्सबर्ग भी एक थे। तत्कालीन प्रथा के अनुसार उनका भी नया नामकरण हुआ था; असाधारण कृपाभाव के कारण उन्हें कृपानन्द नाम मिला था। वे भक्ति तथा पूजा मार्ग के उपासक थे। उनका प्रचण्ड भावुकतापूर्ण स्वभाव इसी पथ से सहज ही अभिव्यक्ति पा सकता था। प्रचार-कार्य के लिए सर्वप्रथम उन्हीं को भेजा गया था।

❖ (क्रमश:) ❖

माँ की पुण्य-स्मृति

कुमुदबन्धु सेन

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(गतांक से आगे)

विख्यात अभिनेता और नाट्यकार श्रीरामकृष्ण के गृही-भक्त गिरीशचन्द्र घोष बीच-बीच में स्वामी योगानन्द तथा स्वामी ब्रह्मानन्द से बातें करने वहाँ (आलमबाजार मठ में) आया करते। गिरीशचन्द्र की उक्तियों से श्रीरामकृष्ण तथा श्रीमाँ के प्रति उनकी प्रगाढ़ भक्ति और उनके ईश्वरत्व एवं असीम करुणा में दृढ़ विश्वास इस प्रकार प्रगट होते कि वहाँ उपस्थित लोगों को अपूर्व उद्दीपना होती।

बहुत दिनों बाद एक बार उन्होंने मुझे बताया था कि पहले वे और ठाकुर के अन्य गृही भक्त भी माँ की महिमा नहीं जानते थे। – "हम लोग उनके प्रति गुरु -पत्नी का ही भाव रखते थे। उस समय हमारे लिए ठाकुर ही बन्धु, पिता-माता, पथप्रदर्शक गुरु – सब कुछ थे। निरंजन (स्वामी निरंजनानन्द) ने ही सबसे पहले मेरी आँखें खोली थीं। जीवन के उस दौर में, जब मैं प्रचण्ड शोक-दुख से कातर, विचलित और त्रस्त होकर किसी भी प्रकार सांत्वना नहीं पा रहा था, उस समय निरंजन प्राय: ही आता और धर्मचर्चा के द्वारा मेरे मन को दूसरी तरफ मोड़ देने की चेष्टा करता। एक दिन मैंने कहा – 'भाई निरंजन, कैसा दुर्भाग्य है, अब तो ठाकुर को देख नहीं पा रहा हूँ – वे ही मेरे एकमात्र आश्रय थे।' निरंजन ने रोकते हुए कहा – 'क्यों? माँ तो हैं न ! ठाकुर और माँ में भेद ही कहाँ है? क्या आप लक्ष्मी को छोड़कर नारायण की, पार्वती को छोड़कर शिव की, सीता को छोड़कर राम की और राधा या रुक्मिणी को छोड़कर कृष्ण की कल्पना कर सकते हैं?' मैं चौंक पड़ा – 'कहते क्या हो ! ठाकुर और माँ अभिन्न हैं?' निरंजन ने उत्तर दिया – 'ठीक है, श्रीरामकृष्ण को तो आप अवतार मानते ही हैं। तो फिर क्या आप सोचते हैं कि उन्होंने एक साधारण नारी को अपनी लीला-संगिनी के रूप में चुना था? ठाकुर की ये बातें याद कीजिए – ब्रह्म तथा शक्ति, दो रूपों में हमारे सामने व्यक्त होकर भी वस्तुत: एक और अभिन्न हैं। माँ स्वयं ही शक्ति हैं, पूर्ण ब्रह्म श्रीरामकृष्ण की शक्ति हैं।' निरंजन की यह बात सुनकर मेरी आँखें खुल गयीं। तत्काल मैंने अनुभव किया कि जगदम्बा ही श्रीमाँ के रूप में जीवों के उद्धार हेतु आविर्भूत हुई हैं। मैं तत्क्षण जयरामबाटी जाकर माँ का दर्शन करने की आकुलता महसूस करने लगा। मैं अवश्य ही माँ के दर्शन करूँगा, वे ही इस महादुख में मेरे आँसू पोंछ सकती हैं, मेरा शोक दूर कर सकती हैं। निरंजन ने मेरे इस विचार का समर्थन करते हुए मेरे साथ जाने की इच्छा दिखाई। परन्तु बलराम बसु ने इस पर घोर आपत्ति की। वे बिल्कुल भी नहीं चाहते थे कि मैं अपने जागतिक दुख-कष्ट के द्वारा माँ को पीड़ित करूँ। स्वामी विवेकानन्द उन दिनों कलकत्ते के बाहर थे। निरंजन ने सारी बात लिखकर उनकी राय माँगी। स्वामीजी की अनुमति पाकर हम दोनों जयरामबाटी चल दिये। कामारपुकुर पहुँचने पर मुझे जिस आनन्द की अनुभूति हुई, उसे मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता। जिस कुटिया में श्रीरामकृष्ण ने जन्म लिया था, वह बिल्कुल तपोवन-सा प्रतीत हो रहा था। उस निर्मल दृश्य तथा परिवेश ने मेरे चित्त को बाँध लिया। तत्पश्चात् हम जयरामबाटी गये। वहाँ निवास के दौरान मैंने माँ से स्पष्ट पूछा – 'तुम मेरी सचमुच की माँ हो या मानी हुई?' वे बोलीं – 'मैं तुम्हारी सचमुच की माँ हूँ।'"

गिरीश बाबू ने तेजोमय वाणी और आवेगमय कण्ठ से कहा – "हाँ, माँ स्वयं जगदम्बा हैं – शहर से अति दूर एक निर्धन ग्राम्य कन्या के रूप में आयी थीं, जहाँ शहर का कर्म-कोलाहल, विषयी लोगों का स्वार्थ, कृत्रिम दिखावापूर्ण जीवन-यात्रा नहीं। मैंने माँ से कोई प्रार्थना नहीं की, पर ज्योंही उनके पास गया, क्षण भर में ही मेरे सारे दुख-कष्ट मिट गये, मन में ऐसी अपूर्व शान्ति का अनुभव हुआ, जैसा पहले कभी भी नहीं हुआ। अहा ! वे दिन कैसे अलौकिक आनन्द में बीते हैं !"

(स्वामी निरंजनानन्द और गिरीश घोष के जयरामबाटी-निवास के दौरान) एक दिन एक भिखारी आकर गाने लगा –

भावार्थ – अरी उमे, क्या ही आनन्द की बात है ! सच बोल, शिवानी, लोगों के मुख से जो सुनती हूँ, क्या काशी में तेरा नाम अन्नपूर्णा है? अरी अपर्णे, जब मैंने तुझे शिव को सौंपा था, तब तो भोलानाथ मुट्ठी-भर भीख के लिए भटका

करते थे। पर शुभंकरी, आज कितने आनन्द की बात सुन रही हूँ कि तू अब विश्वेश्वरी होकर विश्वेश्वर के वाम भाग में स्थित है। मेरे इस दिगम्बर को लोग 'पगला' कहा करते थे, घर में और बाहर मुझे न जाने कितने तरह के ताने सुनने पड़े हैं; पर सुना है कि अब तो उसके फाटक पर द्वारपाल रहता है और इन्द्र, चन्द्र, यम आदि भी उसके दर्शन नहीं पाते। शिव पहले तो हिमालय में निवास करता था और तब उसे भिक्षा से ही जीवन-निर्वाह करना पड़ता था, परन्तु अब तो वह कुबेर के धन से काशीनाथ हो गया है। क्या तेरे भाग्य से उसका भाग्य फिरा है? ऐश्वर्य-बोध होने के बावजूद मुझे तो ऐसा ही लगता है, नहीं तो गौरी की इतनी महिमा क्यों होती? वह अपनी सन्तान पर कृपा-दृष्टि नहीं करती; राधिका* का नाम सुनते ही मुँह फेर लेती है।''

भिखारी ने गाना समाप्त किया। वहाँ उपस्थित गिरीश बाबू, स्वामी निरंजनानन्द तथा अन्य लोगों की आँखों में आँसू भर आये। माँ और उनकी महिला संगिनियाँ भी रोने लगीं। इस भजन ने माँ के पूर्ववर्ती जीवन के उन दिनों की याद दिला दी थी जब जयरामबाटी और आसपास के गाँवों के लोग श्रीरामकृष्ण को 'पागल जमाई' कहा करते थे, जब माँ के अपने माता-पिता ही उनका श्रीरामकृष्ण के साथ विवाह कर देने के लिये पश्चाताप किया करते थे और पड़ोसी उनके दुर्भाग्य के लिए खेद प्रगट किया करते थे। माँ इन बातों का कोई प्रतिवाद नहीं करतीं, या कर ही नहीं पातीं। वे चुपचाप सारे अपमान सहन करतीं, परन्तु अपने हृदय में जानती थीं कि उनके पति साधारण पागल नहीं, ईश्वर के लिए पागल हैं; साधारण मनुष्यों की तुलना में वे बहुत उच्च स्तर के व्यक्ति हैं। इसके बाद माँ जब-जब ठाकुर के सम्पर्क में आतीं, तब-तब उन्हें दिव्य आनन्द का बोध होता। माँ किसी दूसरे के घर नहीं जातीं, किसी सामाजिक कार्यक्रम में भी नहीं जातीं, कि कहीं कोई उनके पति के बारे में उल्टी-सीधी बातें न करने लगे या उनके दुर्भाग्य को लेकर ठाकुर को दोष न देने लगे। अब तो लोग श्रीरामकृष्ण को ऋषि या अवतार मानते हैं, विभिन्न स्थानों में उनकी पूजा हो रही है, लोग इस छोटे-से गाँव में भी माँ का दर्शन करने चले आ रहे हैं। बहुत-से भक्त उन्हें साक्षात् जगदम्बा मानते हैं। वह भजन सुनकर श्रोताओं के मन में श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ के पूर्ववर्ती जीवन की बातें याद आने लगीं, इसलिए उनके नेत्रों में जल भर आया। मैंने गिरीश बाबू से सुना है कि एक घण्टे से भी अधिक समय तक सभी सजल नयनों के साथ मंत्रमुग्ध के समान बैठे रहे।

आनन्द के दिन समाप्त होने को आये। सुना कालीपूजा के बाद श्रीमाँ जयरामबाटी लौट जायेंगी। प्रस्थान के दिन गिरीश बाबू आये। बिना कुछ बोले वे स्वामी योगानन्द को साथ लेकर सीधे माँ के पास चले गये। हम लोग उनके पीछे-पीछे गये। गम्भीर भावावेग और भक्ति के साथ माँ को साष्टांग प्रणाम करने के बाद वे हाथ जोड़कर बोले – ''माँ, मैं जब भी तुम्हारे पास आता हूँ, तो मुझे लगता है कि मैं तुम्हारा नन्हा-सा शिशु हूँ, मानो अपनी माँ के पास आया हूँ। मैं यदि तुम्हारा सयाना पुत्र होता, तो तुम्हारी सेवा कर पाता। लेकिन होता इसके उल्टा ही है। तुम्हीं मेरी सेवा करती हो, मैं नहीं करता। तुम लोगों की सेवा करने, यहाँ तक कि खाना बनाकर लोगों को खिलाने जयरामबाटी जा रही हो। बोलो, कैसे मैं तुम्हारी सेवा कर सकता हूँ? जगदम्बा की कैसे सेवा होती है, यह भला मैं क्या जानूँ?''

आवेग से गला रुँध गया, चेहरा लाल हो उठा। उन्होंने फिर कहा – ''माँ, तुम मेरे मन की सारी बातें जानती हो। हम लोग तो स्वयं अपने मन के भाव नहीं जान पाते। तुम्हारे पास आने की योग्यता हमारी नहीं है। लेकिन तुम्हारी दया असीम है, सन्तान को दर्शन देने स्वयं आयी हो। जब भी तुम्हारी यहाँ आने की इच्छा होगी, तत्काल बिना द्विधा के चली आना। हम लोग तुम्हारी सन्तान हैं, हम लोग माँ को देखकर कितना आनन्दित होते हैं। अपनी सेवा करने का सुयोग देकर हमें धन्य करो।''

हम लोग उनके पीछे ही थे। बाद में वे हम लोगों की ओर संकेत करके बोले – ''मनुष्य के लिए यह विश्वास करना बड़ा कठिन है कि ईश्वर कभी-कभी हमारे समान मानव शरीर में आविर्भूत होते हैं। क्या तुम लोग कल्पना कर सकते हो, साक्षात् जगदम्बा एक ग्राम्य नारी के वेश में तुम्हारे सामने खड़ी हैं? क्या तुम लोग कल्पना कर सकते हो कि वे एक साधारण नारी के समान सभी प्रकार के गृहस्थी के और सामाजिक कामकाज करती रहती हैं? इन सबके बावजूद भी वे स्वयं महामाया हैं, महाशक्ति हैं; जीवों की मुक्ति के लिए आविर्भूत हुई हैं, साथ ही मातृत्व का परम आदर्श भी स्थापित कर रही हैं।''

वहाँ उपस्थित सभी के ऊपर उनके इस वक्तव्य का बड़ा गहन प्रभाव हुआ। सारा परिवेश परम शान्ति और महिमा से पूर्ण हो उठा। मानो वह आध्यात्मिक आनन्द और आशीर्वाद से परिपूर्ण होकर साक्षात् स्वर्गलोक में परिणत हो गया।

माँ के साथ हम लोग रेलवे स्टेशन गये, उनके चरण-स्पर्श करके प्रणाम किया। उन्होंने भी हमें आशीर्वाद दिया।

❖ (क्रमशः) ❖

* राधिका – भजन की रचयिता का नाम है।

काशी-माहात्म्य

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

काशी-माहात्म्य, दण्डी स्वामी शिवानन्द सरस्वती, धर्मसंघ, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी (प्रकाशक – प्रकाशन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, पृष्ठ-२८०, मूल्य १००/-)

काशी विश्वेश्वरं लिङ्गं ज्योतिर्लिङ्गं यदुच्यते ।
तद् दृष्ट्वा परमं ज्योतिराप्नोति मनुजोत्तमः ।।

– 'काशी का विश्वेश्वर शिवलिंग ज्योतिर्लिंग कहा जाता है, उसके दर्शन-पूजन से श्रेष्ठ मनुष्य परम ज्योति का, परमात्मा के प्रकाश का दर्शन करते हैं।'

काशी भूतभावन भगवान शंकर के त्रिशूल पर स्थित है। जहाँ अनादि काल से गंगा अपनी कलकल ध्वनि से प्रवाहित होकर असंख्य नर-नारियों के चित्त को पवित्र कर उन्हें शान्ति प्रदान करती हैं। जहाँ प्राणियों के पार्थिव शरीर में रहने पर माँ अन्नपूर्णा अपनी करुणा-कटाक्ष से समस्त जनों को अपनी गोद में बिठाकर भोज्य-प्रदान करती हैं, जहाँ काल-भैरव जी प्राणियों को सब प्रकार से संरक्षण प्रदान करते हैं, वहीं स्वमहिमान्वित अवढ़रदानी भगवान शिव सभी जीवों को सर्व-उपाधि से विरत कर अन्त में मुक्ति प्रदान करते हैं। यह है काशी का विलक्षण वैशिष्ट्य !

काशी सन्तों की, भक्तों की उद्दीपना भूमि है। वहाँ जाने पर मनुष्य को धार्मिक उद्दीपना होती है, आध्यात्मिक उद्भावना होती है। भगवान के अद्भुत कृपा की उद्दीपन-गाथाओं से काशी परिपूर्ण है। इसलिये, **काश्यां कंकरो कंकरोऽपि शंकरः** – 'काशी का कंकर-कंकर शंकर है' इस उपाधि से संज्ञित है। यहाँ संतशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा स्थापित संकट-मोचन हनुमान जी की अनुकम्पा की उद्भावना होती है। यहाँ जीवनदायिनी, मुक्तिविद्यायनी माँ गंगा को देखकर उनके पतित-पावनी, जगत्-तारिणी स्वरूप की स्मृति होती है। यही वह पूण्यभूमि है जहाँ हरिश्चन्द्र जैसे सत्यवादी राजा की पावन स्मृति विद्यमान है। अपनी ही पत्नी से अपने ही पुत्र का शमशान-कर लेनेवाले राजा हरिश्चन्द की करुण-कथा का यहीं वह उद्दीपक स्थल है – हरिश्चन्द्र घाट। आदि-शंकरचार्य को ज्ञान देने वाले भंगी की घटना का श्रेय भी इसी काशी को प्राप्त है। यहीं युग-अवतार भगवान श्रीरामकृष्णदेव ने मणिकर्णिका घाट पर साक्षात् दर्शन किया था कि भगवान शिव कैसे जीवों को मुक्ति प्रदान कर रहे हैं। यही काशी जो तैलंग स्वामी, भास्क़राचार्य जैसे असंख्य सन्तों की तपोभूमि रही, वही विद्वानों की ज्ञान-मन्थन-भूमि के श्रेय से भी अलंकृत है। इसीलिये काशी हिन्दु विश्वविद्यालय के कुलगीत में इसे 'सर्वविद्या की राजधानी' कहा गया है। ऐसे असंख्य दृष्टान्त हैं, जो काशी के प्रति सहज आकर्षण प्रस्तुत करते हैं।

काशी की महिमा को प्रतिपादित करते हुए काशी खण्ड (४६/३१) में कहा गया है कि –

काशी दर्शनमात्रेण निष्पापो जायते नरः ।
एकेन रेणुना काश्याः शुद्धयन्ति मलिनो जनाः ।।

– 'काशी' के दर्शनमात्र से मनुष्य निष्पाप हो जाता है, क्योंकि इसके एक धूलि-कण से अशुद्धचित्त-जन शुद्ध हो जाते हैं।

काशी निर्विघ्न जननी काशीं मोक्षस्य सत्खनिः ।

– 'काशी निर्विघ्न की जननी और मोक्ष की खान है।'

सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यः अग्रेरग्निः प्रभोः प्रभुः ।
श्रियः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्तिः कीर्त्याः क्षमाक्षमा ।।

– 'काशी सूर्य का भी सूर्य है, अग्नि की भी अग्नि है, प्रभु का भी प्रभु है, लक्ष्मी की भी लक्ष्मी है, कीर्ति की भी कीर्ति है, और क्षमा की भी क्षमा है।'

इसीलिए कुर्मपुराण में सर्वजीव-मोक्ष-प्रदायक भगवान शिव माँ पार्वती जी से कहते हैं –

प्रेमपात्रं द्वयं देवि ! नितरां नेतरन्मम् ।
त्वं वा तपोधने गौरि ! काशीवाऽऽनन्दभूमिका ।।

– 'हे देवि ! मेरे अत्यन्त प्रेमपात्र दो ही हैं, हे तपोधने गौरि ! एक तुम और दूसरी आनन्द देने वाली काशी।

विना काशीं न मे स्थानं, विना काशीं न मे रतिः ।
विना काशीं न निर्वाणं सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ।।

– 'काशी को छोड़कर मेरा दूसरा स्थान नहीं है और काशी के सिवा मेरा अन्यत्र कहीं अनुराग नहीं है। काशी के बिना निर्वाण मोक्ष नहीं होता है, यह मैं परम सत्य कह रहा हूँ।' ऐसी महिमा है भगवान शिव से व्याप्त, माँ अन्नपूर्णा-कृपायुक्त, कालभैरव, संकट-मोचन हनुमान एवं माँ दुर्गा रक्षित काशी की !

वेदों, पुराणों, उपनिषदों तथा अन्य कई ग्रन्थों में उल्लिखित, किन्तु बिखरे हुए, ऐसी काशी की महिमा को काशीस्थ सन्त दण्डी स्वामी शिवानन्द सरस्वतीजी महाराज ने बड़े ही दक्षता पूर्वक संग्रहकर इसे ग्रन्थाकार में परिणत किया है। इस ग्रन्थ में काशी के विभिन्न देवस्थलों, पंचक्रोशी आदि यात्राओं एवं अनेकों प्रख्यात् देव-देवी की महिमान्वित श्लोकावली को स्वामीजी ने चयनित कर उसका सरल हिन्दी अनुवाद भी दिया है। स्वामीजी ने लगभग २६ पुस्तकें 'काशी' पर लिखी हैं, जिसमें 'काशी मोक्ष निर्णय', 'काशी का गौरव',

'काशी पंचक्रोशी यात्रा' और 'काशी माहात्म्य' आदि प्रमुख हैं। वे लेखक के साथ-साथ एक अनुसन्धाता भी हैं। पूज्य स्वामीजी ने स्वयं दुर्लभ गलियों में जाकर उन देवालयों का अन्वेषण किया है तथा उनका ठीक-ठीक पता भी दिया है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ पाँच अध्यायों में विभक्त है, जिनमें 'काशी-तत्त्व विमर्श' 'मुक्ति धाम काशी,' 'काशी की ओंकार रूपता', 'विश्वेश्वर महिमा' और 'अविमुक्त क्षेत्र' आदि विषयों का विवेचन है। एक ओर, इस ग्रन्थ में जन-साधारण को काशी की महिमा से अवगत कराने हेतु सरल हिन्दी अनुवाद है तो दूसरी ओर पौराणिक वाङ्मय के अक्षुण्णार्थ एवं सम्मानार्थ मूल श्लोक भी प्रदत्त हैं, जो मूधर्न्य विद्वानों के विश्लेषणार्थ प्रस्तुत है। काशी-महिमा की प्रख्याति हेतु स्वामीजी का ग्रन्थ-प्रणयन, यह काशी के प्रति उनकी भक्ति का द्योतक है। स्वामीजी के इस महान् कार्य हेतु हम उनके चरणों में प्रणाम करते हैं एवं उनके मूल प्रेरणाश्रोत काशीपति विश्वनाथ जी की वन्दना एवं उनको साष्टांग प्रणति निवेदन करते हैं।

इस महान् ग्रन्थ का सम्पादन और प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रकाशनाधिकारी डॉ. हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी जी ने कुशलता से किया है तथा पुस्तक के साररूप में श्लाघनीय सम्पादकीय भी लिखा है। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना वहाँ के तत्कालीन कुलपति डॉ. मण्डन मिश्र की लेखनी से सुशोभित है, जिससे ग्रन्थ गौरवान्वित हो गया है। इस ग्रन्थ-प्रकाशन के प्रेरणाश्रोत वहीं के पूर्व कुलपति प्रो. वी. वेंकटाचलम् जी भी सत्प्रेरणार्थ सम्मानार्ह हैं।

जनमानस में काशी के प्रति निष्ठा बढ़ेगी एवं सभी इस पावन पुण्य-धाम के वासी तथा काशी विश्वनाथ जी और माँ अन्नपूर्णा के कृपाधिकारी बनेंगे, ऐसी आशा एवं शुभेच्छा है तथा मोक्षविधायक भूतभावन काशीपति विश्वनाथ और स्वकरुण-क्रोड़प्रदायिनी माँ अन्नपूर्णा से हार्दिक प्रार्थना है। जय विश्वनाथ! जय अन्नपूर्णे! जय कालभैरव! जय हनुमान जी महाराज!

नन्दूजी और उनकी माँ

मणि बहन केड़िया (जयपुर)

भक्तिमती, सरल-हृदय और धनाढ्य परिवार की मेरी एक मित्र थीं – नन्दूजी की माँ। एक बार हमारे यहाँ रामायण का पारायण हुआ था। उनको कहा – आप हमारे यहाँ पारायण सुनने के लिए आयें। उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। पारायण के समय जब भी उनकी ओर नजर जाती थी, तब देखती – उनकी आँखों से गंगा-जमुना बह रही हैं। यह देखकर उनके प्रति श्रद्धा तो होती थी, परन्तु अनुमान लगाना कठिन था कि उनके ये अनमोल आँसू भक्तिरूपी वटवृक्ष की जड़ों को सुदृढ़ कर रहे हैं। उनका सारा समय भगवान की चर्चा में ही जाता था। कभी घरेलू समस्याएँ विकट रूप धारण कर लेतीं, तब भी वे अपना सन्तुलन खूब मजबूती से बनाये रखती थीं।

उनके एकमात्र पुत्र नन्दूजी भी दयालु और सज्जन हृदय के थे। वे पढ़ने के लिए इटली गये थे। उनके पिताजी को दिल का दौरा आया। सहानुभूति रखनेवालों का जमघट लगा हुआ था। नन्दूजी को बुलाया गया। घर में प्रवेश करते ही नन्दूजी ने देखा कि घर के पुराने नौकर रैदास को भी दिल का दौरा आया है और उसके पास सिवाय दो-तीन नौकरों के कोई नहीं है। नन्दूजी तत्काल उसकी परिचर्या में लग गये। बड़े-बड़े डॉक्टरों को रैदास के इलाज के लिए बुलवाया। माँ बहुत आतुरता के साथ बेटे की राह देख रही थीं। आकर कहा – "बेटा, एक बार ऊपर आकर पिताजी को देखो!" नन्दूजी ने कहा – "माँ, थोड़ा धैर्य रखो, मैं आता हूँ। इसके पास कोई नहीं है, यह थोड़ा स्वस्थ हो, तो ऊपर आऊँ।" फिर जैसे-तैसे रात को थोड़ा समय निकालकर वे पिताजी को देख आये। रैदास के खतरे से बाहर होने पर उसे अपने आदमियों के साथ उसके घर भिजवाया। माँ नन्दूजी का यह स्वभाव देखकर प्रसन्नता से कहती थीं कि मैं मन-ही-मन भगवान को धन्यवाद देती हूँ कि मेरा बेटा ऐसा है कि मेरी भक्ति की लाज रखेगा।

एक बार नन्दूजी की माँ को एक विचित्र बीमारी ने घेर लिया। उनके शरीर की चमड़ी सूख-सूखकर गिरती थी। ऐसी स्थिति में उपचार तथा सेवा करना भी सहज नहीं था। लेकिन नन्दूजी अपना सारा कारोबार सँभालते हुए भी, बड़े प्रेम से माँ की सेवा करते थे। रोज बड़ी सावधानी से माँ की चमड़ी इकट्ठा करके, तौलकर डॉक्टरों को बताते थे। आखिर माँ कुछ दिनों बाद स्वस्थ हो गयी। नन्दूजी की सेवा की बात सुनने में आती, तो लगता कि इस दुनिया में ऐसे सेवा-भावी और सच्चे भक्त बेटे अभी भी हैं।

नन्दूजी की माँ अपनी मृत्यु के समय एक विशेष स्थिति में थीं। अपनी मृत्यु का दिन तथा समय – सब पहले से ही बता दिया था। उस दिन उन्होंने जो-जो बताया, वह सब पूरा ठीक निकला। वह देखकर लगता था कि जीवन शुद्ध हो, हृदय में भगवान की भक्ति की हो, तो वाक्सिद्धि हो सकती है। वे नहा-धोकर अपने नित्य नियमों से निवृत्त हुईं और सहज भाव के साथ सबसे विदा लेकर शान्तिपूर्वक चिरनिद्रा में लीन हो गयीं। **('मैत्री' के सौजन्य से)**

मणिपुर में वैष्णव सम्प्रदाय का इतिहास

डॉ. महात्मा सिंह, डी. लिट्. (मणिपुर)
भूतपूर्व रीडर एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष, प्रेसीडेन्सी कॉलेज, मोतबुंग (मणिपुर)

इसे विडम्बना ही कहा जाएगा कि मणिपुर में प्रामाणिक रूप से वैष्णव धर्म का प्रथम आगमन सन् १४७० ई. में भारत से न होकर पूरब के एक छोटे से राज्य पोंग से हुआ जो सम्प्रति बर्मा का एक भाग है। सम्भव है, इसके पूर्व भी वैष्णवी मत यहाँ किसी-न-किसी स्तर पर वर्तमान रहा हो, पर इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। मणिपुर के इतिहास में क्याम्बा नाम से प्रसिद्ध वहाँ के तत्कालीन राजा थाङबै निङथौबा ने, एक बार पोंग के राजा के साथ मिलकर काबा घाटी के शान राज्य पर चढ़ाई कर उसे जीत लिया और दोनों ने आपस में उसका बँटवारा कर लिया। अपना विजयोत्सव मनाने हेतु दोनों राजाओं ने एक-दूसरे के यहाँ उपहारों का आदान-प्रदान किया था। इसी क्रम में पोंग के राजा ने मणिंपुर के राजा क्याम्बा को पत्थर की बनी हुई भगवान विष्णु की एक छोटी-सी मूर्ति उपहार में भेजी थी। इस प्रतिमा में भगवान विष्णु अपने चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण किये गरुड़ पर बैठे दिखाये गये थे।

कहते हैं कि यह मूर्ति सोने के अस्सी मोहरों से निर्मित एक सुन्दर पिटारी में रखकर भेजी गयी थी, जो बाद में लुप्त हो गयी। किंवदन्ती है कि राजा क्याम्बा एक बार गम्भीर रूप से बीमार पड़े और किसी को उनकी बीमारी समझ में नहीं आती थी। तभी एक मायावी (समाधि में भविष्यवाणी करनेवाली पुजारिन) ने भविष्यवाणी की थी कि अगर विष्णु की पूजा की जाय, तो राजा का रोग दूर हो जायेगा। भगवान विष्णु की पूजा-विधि जानने वाले कुछ ब्राह्मण पहले से ही मणिपुर में थे। राजा की रोग-मुक्ति के लिए एक ब्राह्मण ने भगवान विष्णु की पूजा की और सचमुच राजा रोगमुक्त हो गये। अब राजमहल में नियमित रूप से विष्णु की पूजा होने लगी और उसी समय ईंट का एक विष्णु-मन्दिर लमांगडोंग (वर्तमान विष्णुपुर) के राजमहल में बनवाया गया। हालांकि इस समय से विष्णु के रूप में एक नया देवता मितै-देवताओं की मण्डली में शामिल कर लिये गये और इनकी पूजा भी होने लगी। परन्तु राजा के पारम्परिक धार्मिक विश्वास में कोई परिवर्तन नहीं हुआ अर्थात् राजा वैष्णव नहीं बने।

राजा खागेन्बा के राज्यकाल (१५९७-१६५२ ई.) में एक नयी चीज देखने में आयी। १६३५ ई. में वार्षिक नौका-दौड़-प्रतियोगिता (हैक्रुहिदोम्बा) के अवसर पर एक अलग नौका को विशेष प्रकार से सजाकर उसमें भगवान विष्णु की प्रतिमा रखी गयी, ताकि वे भी उत्सव में शामिल होकर उसे देख सकें। यहाँ उल्लेखनीय है कि स्वयं राजा खागेम्बा भी वैष्णव धर्म में दीक्षित नहीं हुए थे। लेकिन इन्हीं के राज्यकाल में वैष्णव धर्म से सम्बन्धित एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटना भी घटी थी और वह यह कि त्रिपुरा से मणिपुर में प्रथम बार श्रीमद्भागवत की एक प्रति लाया जाना। इसके बाद लगभग दो सौ वर्षों तक, राजा क्याम्बा के राज्यकाल से राजा चराइरोम्बा के राज्यकाल (१६९१-१७०६ ई.) तक मणिपुर में वैष्णव धर्म के प्रसार या विकास से सम्बन्धित किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता। पर एक अन्य दृष्टि से इस काल का महत्त्व अवश्य मानना होगा। इन्हीं दिनों मणिपुर में वैष्णव धर्म के व्यापक प्रचार-प्रसार और स्थायित्व के लिए जमीन तैयार हो रही थी, अनुकूल परिवेश बन रहा था।

राजा क्याम्बा के राज्यकाल और सम्भवत: उसके भी कुछ पहले से देश के दूसरे भागों – असम, बंगाल, उड़ीसा आदि से ब्राह्मण परिवार आकर मणिपुर में बसने लगे थे। ये लोग नरसिंह, हयग्रीव, अनन्त आदि विष्णु के अवतारों के पूजक थे। गणेश, राम और कृष्ण की भी पूजा प्रचलित होने लगी थी। बाहर से आनेवाले ये ब्राह्मण-परिवार अपने साथ देवी-देवताओं की मूर्तियाँ, अपना धार्मिक विश्वास, अपनी पूजा-विधियाँ और अपनी संस्कृति व सामाजिक नैतिक आचार-विचार भी साथ लाये। ये लोग अपने साथ बहुत-सी पुराण आदि धर्मशास्त्र भी लाये थे। इन सबका स्थानीय मणिपुरी समाज पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। चूँकि राजमहल में पहले से ही ब्राह्मण द्वारा विष्णु की पूजा करायी जा रही थी और राजा-प्रजा की ओर से इसे समर्थन भी प्राप्त था। अत: सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि ब्राह्मणों द्वारा अपने साथ लाये गये महाभारत, रामायण, गीता, श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणों व धर्मग्रन्थों के माध्यम से भगवान विष्णु की कथा एवं गुणगान और प्रार्थना सुनना यहाँ के लोगों को अच्छा लगा। और वे लोग इनसे प्रभावित भी होने लगे। विष्णु-पूजा का यही बीज मणिपुर में अनुकूल परिवेश तथा ग्रहणशील मानस पाकर क्रमश: विष्णु-भक्ति एवं वैष्णव-धर्म के रूप में विकसित होता रहा और कालान्तर में १७०३ ई. में राजा चराइरोम्बा द्वारा विधिवत वैष्णव-धर्म में दीक्षित होकर यज्ञोपवीत धारण करने के रूप में फलीभूत हुआ।

मणिपुर में वैष्णव-धर्म का आगमन एक ऐतिहासिक आवश्यकता के तहत भी माना जाता है। ग्यारहवीं शताब्दी तक मणिपुर में सात वंशों के अलग-अलग छोटे-छोटे राज्यों

में जिनमें इम्फाल के आस-पास के क्षेत्र में निङथौजा वंश का राज्य सर्वाधिक शक्तिशाली तथा प्रभावशाली था। धीरे-धीरे निङथौजा वंश अन्य छोटे-छोटे राज्यों को पराजित कर अपने राज्य का विस्तार करता रहा और तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक केवल खुमाल और माइरांग वंश के राज्य ही शेष बचे। पन्द्रहवीं शताब्दी तक ये दोनों राज्य भी अपना पृथक् अस्तित्व खोकर निङथौजा अर्थात् मितै झंडे के नीचे आ चुके थे।

जब सात वंशों के अलग-अलग राज्य के दिनों में इनके अपने-अपने अलग कुल-देवता, गृह-देवता, ग्राम-देवता भी थे। इनकी पूजा-विधि, पर्व-त्यौहार, सामाजिक रीति-रिवाज तथा भाषा-संस्कृति में भी थोड़ी भिन्नताएँ अवश्य रही होंगी। पर जब इन सातों राज्यों का विलयन एक मितै राष्ट्र के रूप में हो गया, तब इस नये राष्ट्र में राजनीतिक एकला के साथ-साथ भावात्मक एकता लाने के लिए धार्मिक, सामाजिक व सांस्कृतिक समरूपता लाने की भी जरूरत थी। इस प्रकार अनेक देवी-देवताओं और उनकी अलग-अलग पूजा-विधियों की जगह राधा-कृष्ण या राम के रूप में एक ही सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक ईश्वर की अवधारणा लेकर आनेवाला वैष्णव-धर्म मणिपुर की तत्कालीन अशान्त-अव्यस्थित परिस्थिति में राष्ट्रहित और जनहित में भी था। एक दूरदर्शी, राष्ट्रवादी और धर्मनिष्ठ राजा होने के कारण महाराजा गरीब-निवाज ने वैष्णव-धर्म को एक राष्ट्रीय आवश्यकता के रूप में स्वीकारा और वैष्णव -धर्म ने इस ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति भी की। सात भिन्न-भिन्न वंशीय राज्यों में विभाजित इस भू-भाग को जोड़कर एक प्रभुता-सम्पन्न राजतंत्रीय राज्य स्थापित कर उसे दृढ़, शक्तिशाली और कला-संस्कृति सम्पन्न बनाने में वैष्णव-धर्म ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। मणिपुर में धार्मिक एकता जनता की भावात्मक एकता का कारण बनी, जिससे वहाँ के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास का रास्ता प्रशस्त हो गया। पन्द्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक सम्पूर्ण भारत में जो महान् भक्ति-आन्दोलन पूरी व्यापकता के साथ चलता रहा। उसका प्रभाव साहित्य, समाज, संगीत, कला अर्थात् सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति पर भी पड़ा। यही वह कालखण्ड था, जब रामानन्द, वल्लभाचार्य, चैतन्य तथा शंकरदेव जैसे महान् भक्त, गुरु और समाजचेता देश के अलग-अलग भागों में भक्ति और ज्ञान का आलोक फैला रहे थे। यही वह समय था, जब काशी में तुलसीदास, ब्रज में सूरदास, मिथिला में विद्यापति, बंगाल में चण्डीदास, राजस्थान में मीरा, महाराष्ट्र में तुकाराम और गुजरात में नरसिंह मेहता जैसे महान् सन्त-कवियों ने भक्ति-काव्य की पावन गंगा बहायी थी। मध्यकाल के इस महान् भक्ति-आन्दोलन को, जिसने सम्पूर्ण भारतीय मानस को आलोड़ित और आप्लावित् कर दिया था मात्र भक्ति आन्दोलन के रूप में ही नहीं देखा जाना चाहिए। यह एक व्यापक सांस्कृतिक और सामाजिक आन्दोलन भी था, जिसने एक साथ भारतीय साहित्य, नृत्य, संगीत, चिंतन, आराधना और सामाजिक मूल्यों से लेकर चित्रकला तथा अन्य कलाओं तक को भी गहराई से प्रभावित किया। भक्ति के माध्यम से सम्पूर्ण भारतीय जनमानस को झकझोर कर जगाने और उसमें नयी सांस्कृतिक चेतना भरने वाले इस सांस्कृतिक आन्दोलन की पहुँच मणिपुर तक नहीं हुई, यह कैसे माना जा सकता है। जब इस आन्दोलन का हलचल बंगाल को पार कर असम तक पहुँच गया था, तो उसके पड़ोसी राज्य मणिपुर में उसके न पहुँचने का कोई कारण नहीं दिखायी देता। अत: यह मानने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए कि पन्द्रहवीं सदी के पूर्व भारतीय संस्कृति और वैदिक धर्म का मणिपुर पर प्रभाव चाहे जिस मात्रा में भी पड़ा हो, चाहे जिस भी स्रोत या माध्यम से पड़ा हो, किन्तु उसके बाद से यह प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से और प्रभूत मात्रा में पड़ने लगा था। १४७० ई. में स्थापित मणिपुर में प्रथम विष्णु मन्दिर (विसुनपुर) इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इसके पूर्व भी यहाँ के कुछ लोकोत्सवों, पूजा के विविध विधानों, लोक-नृत्यों और लोक-विश्वासों के रूप में शैव और शाक्त धर्म के प्रभाव दीख पड़ते हैं। कौश्र, चिंगनुहूत, हैबोक- महादेव, नोङमाइजिं पर्वत, इङौरोक और कामाख्या (हियांथाग-लाइरेम्बी) के प्राचीन मन्दिर व मूर्तियाँ भी इस बात को प्रमाणित करती हैं कि जिस काल में शैव और शाक्त धर्म की तांत्रिक साधना-पद्धति असम में फैली थी, उसी काल में या उसके कुछ बाद से मणिपुर में भी उस शाखा का विस्तार हुआ होगा। मणिपुर के देवपूजा-परक प्राचीनतम नृत्य-प्रधान लोकोत्सव 'लाइ हराओबा' में माइबियों के हाव-भाव-चेष्टाएँ व उनके द्वारा अस्पष्ट स्फुट ध्वनियों में किया गया मंत्रोच्चारण और गाये जानेवाले सृष्टि-प्रक्रिया-विषयक घोर कामोत्तेजक गीत भी इसी ओर संकेत करते हैं कि भारत की वाममार्गी साधना की लहर असम से होते हुए मणिपुर तक भी अवश्य पहुँची होगी।

प्रथम वैष्णव राजा चराइरोम्बा (१६९१-१७०६) द्वारा विधिवत् वैष्णव-धर्म में दीक्षित होने के पूर्व से ही यहाँ आर्य धर्म और संस्कृति पहुँच चुकी थी। पर अब वैष्णव-धर्म मात्र उपासना तथा विश्वास के क्षेत्र तक ही सीमित न रहकर दैनिक जीवनचर्या का भी अंग बन गया; क्रमश: लोगों के खान-पान, रहन-सहन, पर्व-त्यौहार और आचरण में ढलता गया।

राजा चराइरोम्बा के उत्तराधिकारी जितने भी राजा हुए, उन सबने विभिन्न रूपों में वैयक्तिक और सामाजिक स्तरों पर वैष्णव-धर्म में अपनी दृढ़ आस्था के प्रमाण दिये। १८वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में वैष्णव-धर्म के विभिन्न शाखाओं-सम्प्रदायों के धर्म-प्रचारक बाहर से मणिपुर में आये। इनमें से अधिकांश बंगाल से आये थे। इस प्रकार यहाँ निम्बार्क

सम्प्रदाय, रामानन्दी सम्प्रदाय और गौड़ीय सम्प्रदाय के धर्म-प्रचारकों ने वैष्णव-भक्ति का खूब प्रचार-प्रसार किया। इसी वातावरण का प्रभाव था कि सन् १७०९ ई. में जब पामहैबा मणिपुर के राजा बने, तो शान्तिदास गोस्वामी नामक वैष्णव साधु के प्रभाव में आकर उन्होंने वैष्णव-धर्म को रामानन्दी सम्प्रदाय घोषित कर दिया। राजा पामहैबा उर्फ गरीब-निवाज ने अपने धार्मिक उत्साह में न केवल इस धर्म को राज्य की सम्पूर्ण प्रजा के लिए अनिवार्य बना दिया, बल्कि पारम्परिक मितै धर्म को मानना दण्डनीय अपराध भी घोषित कर दिया।

चाहे कोई नीति सम्बन्धी कानून हो, या धर्म सम्बन्धी, यदि वह प्रजा की सहमति की उपेक्षा कर राजा के आदेश के रूप में आता है, तो प्रजा द्वारा उसका विरोध स्वाभाविक है। धर्म-सम्बन्धी यह राजकीय आदेश यदि मात्र भगवान के एक रूप के बदले दूसरे रूप को मानने और पूजने तक ही सीमित होता, तो जनता की भावनाओं को उतनी चोट नहीं लगती और वह इसका इतना विरोध भी नहीं करती, लेकिन यहाँ तो अपनी पूरी परम्परा को छोड़ने की बात थी। आस्था के केन्द्र को बदलने के साथ-साथ एक सुदीर्घ जीवन-परम्परा और जीवन-पद्धति को बदलने का सवाल था। प्रकारान्तर से यह एक जीवित भाषा और जीवन्त संस्कृति की उपेक्षा थी, क्योंकि वैष्णव-धर्म को राज्य-धर्म घोषित करने साथ-साथ अन्य कई प्रकार के प्रतिबन्ध और निषेध लागू किये गये थे और कई चीजें वर्जित और कई चीजें अनिवार्य बना दी गयी थीं। खान-पान सम्बन्धी कई प्रकार के निषेधों के अतिरिक्त भगवान के पूजन-अर्चन की विधियों में नये निषेध-आदेश, स्थानीय भाषा में कीर्तन-भजन की मनाही और उसके स्थान पर बँगला और ब्रजवुली की अनिवार्यता सुबह से रात में सोने के समय तक के लिए वैष्णवी पद्धति की दिनचर्या का पालन, सुबह-स्नान, तुलसी-चौरा पर पूजन-अर्चन, चन्दन-लेपन, भगवान को अर्पण धार्मिक-सामाजिक अवसरों पर कीर्तन-भजन आदि। इसी समय से मणिपुरी भाषा को बँगला-लिपि में लिखा जाना भी अनिवार्य बना दिया गया।

इन सारे राजकीय निषेधों आदेशों की प्रतिक्रिया तो जनता में होनी ही थी। और प्रजा द्वारा इस राज्याज्ञा के उल्लंघन ने राजहठ को और सुदृढ़ बना दिया। राजा की क्रोधाग्नि भड़काने में शान्तिदास गोस्वामी की धर्मान्धिता तथा संकीर्ण धार्मिक कट्टरता ने घी का काम किया। कहा जाता है कि क्रोधित होकर राजा ने पारम्परिक मितै-धर्म-ग्रन्थों को पूरे राज्य से एकत्र कर जलवा दिया, ताकि जनता अपने पुराने धर्म और परम्परा को भूल जाय। केवल इतना ही नहीं, महाराजा ने वैष्णव-धर्म द्वारा अनुमोदित आचरण न करने, खान-पान, रहन-सहन, पूजा-पाठ की विधि आदि में आदेशों-निषेधों का पालन न करने पर दण्ड देने की भी घोषणा कर दी। देव-मन्दिरों में भगवान की प्रार्थना या भजन-कीर्तन मणिपुरी भाषा में करने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। पुरानी मणिपुरी लिपि के स्थान पर बँगला लिपि प्रचलित की गयी। अर्थात् जीवन के हर क्षेत्र में और हर सामाजिक अनुष्ठान में वैष्णवी आचरण, वैष्णवी विधि-विधान और तौर-तरीका अपनाने पर बल दिया जाने लगा। इस प्रकार जनता का अपने पारम्परिक धार्मिक विश्वासों, जीवन-पद्धति और अपनी सांस्कृतिक धारा से राजकीय दण्ड के बल पर पूरी तौर से विच्छिन्न करना महाराजा के लिए उचित नहीं था। अत: जनता द्वारा इस राजाज्ञा का विरोध नितान्त स्वाभाविक ही था।

महाराजा गरीब-निवाज ने वांखै नामक स्थान पर राम, सीता और लक्ष्मण का एक मन्दिर बनावाया तथा इम्फाल नदी के तट पर महाबली में हनुमान् मन्दिर का निर्माण कराया। महाभारत और रामायण का मणिपुरी भाषा में अनुवाद कराना भी उन्होंने शुरू किया था। इन दोनों पुराणों के कुछ ही अंश आज उपलब्ध हैं, बाकी या तो अनुवादित ही नहीं हुए, या फिर बर्मा के साथ हुए युद्धों के समय नष्ट हो गये।

महाराजा गरीब-निवाज एक वैष्णव भक्त होने के साथ ही कुशल राजनीतिज्ञ, महान् प्रशासक और अपने देश की सीमाओं का विस्तार कर मणिपुर को एक बड़ा और शक्तिशाली राष्ट्र बनाने का सपना देखनेवाले एक वीर योद्धा भी थे। शुरू में उन्होंने अपने पिता से उत्तराधिकार के रूप में पाये मधुर-भाव-पूर्ण वैष्णव भक्ति की ओर अपना झुकाव तो अवश्य दिखाया और इसके प्रचार-प्रसार के लिए भरपूर प्रयत्न भी किये, किन्तु उन्हें अपने सपनों का मणिपुर बनाने के लिए गोपी-वल्लभ लीला-बिहारी श्रीकृष्ण की अपेक्षा मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम जैसे दुर्धर्ष, कर्मठ और पौरुषयुक्त चरित्रवाले आदर्श अवतार से प्रेरणा लेने की जरूरत थी। रामानन्दी वैष्णव सम्प्रदाय की ओर उनके झुकाव का सम्भवत: मुख्य कारण यही था। वे अपने देश में राम-राज्य का आदर्श प्रस्तुत करना चाहते थे। एक आदर्श राजा, एक आदर्श पुत्र, एक आदर्श भाई, एक आदर्श पति, एक आदर्श प्रशासक, एक आदर्श योद्धा और एक मर्यादाबद्ध प्रजावत्सल राजा के रूप में भगवान राम ही गरीब-निवाज जैसे महत्त्वाकांक्षी राजा के आराध्यदेव हो सकते थे। इसीलिए उन्होंने प्रजा के विरोध की उपेक्षा कर मणिपुर में रामभक्ति का प्रचार किया-कराया।

परन्तु मणिपुर के इतिहास में राजर्षि भाग्यचन्द्र के नाम से विख्यात महाराजा जयसिंह के राज्यकाल (१७५९-१७९८) में पुन: गौड़ीय वैष्णव-धर्म को राजधर्म घोषित किया गया। राजर्षि भाग्यचन्द्र ने अपना जीवन और अपनी राजगद्दी अपने परम आराध्य गोविन्द जी को समर्पित कर दिया और स्वयं उनके सेवक-रूप में राज्य का संचालन करते थे। ये राधाकृष्ण के बड़े ही निष्ठावान समर्पित भक्त थे। भगवान श्रीकृष्ण के

प्रति इनकी अगाध भक्ति, समर्पण-भावना और उन पर कृपा के बारे में अनेक चमत्कारी घटनाएँ और रहस्यपूर्ण किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। एक बार भगवान ने इन्हें स्वप्न में दर्शन देकर काइना गिरि पर उगे एक कटहल-वृक्ष के काठ से अपनी मूर्ति बनवाकर मन्दिर में स्थापित करने का आदेश दिया। महाराजा ने उसी से श्री गोविन्दजी, श्री विजय गोविन्द, श्री मदनमोहन, श्री गोपीनाथ और श्री अनुप्रभु की काष्ठ-मूर्तियाँ बनवाकर विभिन्न स्थानों पर पाँच मन्दिर बनवाकर उनमें स्थापित करायी। मणिपुरी रासलीला की उद्भावना के बारे में भी इसी तरह के एक स्वप्न की चर्चा की जाती है। कहते हैं कि महाराजा भाग्यचन्द्र ने स्वप्न में राधा-कृष्ण को रास करते देखा। स्वप्न में देखी गयी रासलीला और उस समय राधा-कृष्ण तथा गोपियों द्वारा धारित विशेष प्रकार के आकर्षक परिधानों के आधार पर ही बाद में अपने दरबार के संस्कृत पण्डितों तथा कलाकारों की सहायता से उन्होंने रास-लीला और उसके परिधान की परिकल्पना को चरितार्थ किया।

महाराजा भाग्यचन्द्र का राज्यकाल मणिपुर में वैष्णव भक्ति का स्वर्णकाल था। मणिपुरी रासलीला और नट-कीर्तन का अभूतपूर्व विकास इस काल में हुआ और इनके माध्यम से मणिपुरी वैष्णव-भक्ति ने अपने नृत्य-संगीतमय कलात्मक स्वरूप को खूब निखारा। मणिपुर में प्रथम बार रासलीला का आयोजन महाराजा भाग्यचन्द्र के ही निर्देशन में काँचीपुर स्थित राजभवन के रास-मण्डप में हुआ था जिसमें महाराजा भाग्यचन्द्र की पुत्री विम्बावती मुंजुरी ने राधा की भूमिका निभायी थी तथा राज-परिवार की अन्य महिलाओं ने भी भाग लिया था।

महाराजा भाग्यचन्द्र ने जब वैष्णव धर्म के चैतन्य सम्प्रदाय अर्थात् गौड़ीय वैष्णव-धारा को राजधर्म घोषित किया, तो प्रजा की ओर से कोई विरोध नहीं हुआ, क्योंकि उनकी दृष्टि अधिक उदार और व्यापक थी। उन्होंने वैष्णव तरीके से जीवन जीने और अपनी दिनचर्या आयोजित करने पर बल दिया, परन्तु वैसा न करने पर राजदण्ड का आतंक नहीं फैलाया। प्रजा स्वत: ही धार्मिक विधि-विधान, पूजा-पाठ और कर्मकाण्डों को अपनाती गयी।

ऐसा इसीलिए भी हुआ कि मणिपुर में वैष्णव धर्म के साथ ही महाभारत, रामायण, गीता, श्रीमद्भागवत तथा हिन्दू पुराण भी आये। बाहर से आनेवाले ब्राह्मणों, वैष्णव साधु-सन्तों और धर्म-प्रचारकों ने भी राम, कृष्ण, दानवीर कर्ण, युधिष्ठिर, भीम, लक्ष्मण, भरत, हनुमान, सीता, सावित्री तथा अनेक ऋषि-महर्षियों के आदर्श उज्ज्वल-चरित्र से मणिपुरी जनता को परिचित कराया। उच्च नैतिक मूल्यों और त्याग, कर्तव्य-परायणता, सत्यवादिता, दान-धर्म, पवित्रता, दया, भक्ति जैसे उच्च मानवीय गुणों से सम्पन्न इन पौराणिक पात्रों, देवताओं तथा अवतारों की कथाओं ने मणिपुरी जनता को काफी प्रभावित किया था। इन धार्मिक कथाओं के माध्यम से जिन नैतिक मूल्यों और जीवनादर्शों की स्थापना की गयी है, उनका विरोध करने का कोई साहस भी नहीं कर सकता। इन कथाओं तथा चरित्रों में जैसा देवत्व है वैसा ही मानवत्व भी, जितनी आध्यात्मिकता है उतनी ही भौतिकता भी, फिर कृष्ण और राधा के प्रेम और समर्पण की अपूर्व कथा की आध्यात्मिक और भौतिक अपील को भला कौन नकार सकता था।

लेकिन राजर्षि भाग्यचन्द्र ने राधा-कृष्ण की भक्ति और लीला-गान की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी राम की उपेक्षा नहीं की। उन्होंने अपने राज्य का राजा तो श्री गोविन्दजी को ही माना और जैसे भरत ने राम की अनुपस्थिति में उनकी खड़ाऊ को गद्दी पर रखकर स्वयं उनके विश्वस्त सेवक के रूप में उनकी ओर से राज-काज चलाया, उसी तरह महाराजा भाग्यचन्द्र भी श्री गोविन्दजी के प्रतिनिधि के रूप में राज्य की व्यवस्था करते थे और राम को वे राज्य के सेनापति के रूप में मानते थे। इस प्रकार राजर्षि भाग्यचन्द्र ने कृष्ण में ही भगवान के प्रेममय, आनन्दमय और लीलामय स्वरूप को देखा और उनके कर्ममय, पौरुषमय और ओजमय स्वरूप को राम में देखा। इस प्रकार उन्होंने अपने राज्य के राजा तथा सेनापति के रूप में दोनों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया।

महाराजा भाग्यचन्द्र ने मणिपुरी जनता के पारम्परिक धार्मिक, सामाजिक तथा नैतिक विश्वासों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। मितै देवी-देवताओं के पूजन-अर्चन तथा परम्परागत व्रत-त्योहार आदि मनाने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया। इस तरह मणिपुर में वैष्णव धर्म और पारम्परिक मितै धर्म (जो भारतीय वैदिक धर्म से बहुत भिन्न नहीं है और जिसे पण्डितराज अतोम्बापू शर्मा ने मणिपुर का सनातन धर्म माना है) के बीच एक सुन्दर समन्वय स्थापित हुआ। समन्वय की यह प्रक्रिया सोलहवीं शताब्दी से शुरू होकर आन्तरिक और बाह्य दोनों स्तरों पर निरन्तर चलती रही है, जिसके फलस्वरूप पारम्परिक मितै देवता नोङपोक निङथौ शिव के अवतार और देवी पांथोइबी दुर्गा एवं पार्वती के अवतार माने गये हैं। पाखंबा शेषनाग के प्रतिरूप बन गये। इस प्रकार हिन्दू देवी-देवताओं और पूर्व वैष्णवकालीन मितै देवी-देवताओं की पूजा मणिपुर के साथ-साथ चलने लगी। पूर्व-त्योहारों में भी वही सह-अस्तित्व और समन्वय की भावना देखी जाती है। होली, दीवाली, दुर्गा-पूजा, सरस्वती-पूजा, रथा-यात्रा, शिव-रात्रि और जन्माष्टमी के साथ-साथ यहाँ के लोग लाइहराओबा, चैरओबा तथा हैक्रू हिद्रोम्बा का त्योहार भी उसी उत्साह और श्रद्धा से मनाते हैं। किसी राष्ट्र या जाति की व्यापक संस्कृति की निर्मिति में धर्म की भूमिका महत्वपूर्ण तो होती है, लेकिन निर्णायक नहीं। ❑❑❑

अलवर के अनुरागी भक्त

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९३ ई. में अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित सर्व-धर्म-महासभा में पहुँचकर अपना ऐतिहासिक व्याख्यान देने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने एक अकिंचन परिव्राजक के रूप में उत्तरी-पश्चिमी भारत का व्यापक भ्रमण किया था। इस लेखमाला में प्रस्तुत है – विविध स्रोतों से संकलित तथा कुछ नवीन तथ्यों से संबलित उनके राजस्थान-भ्रमण तथा वहाँ के लोगों से मेल-जोल का रोचक विवरण। – सं.)

अलवर में सात सप्ताह प्रवास के दौरान स्वामीजी वहाँ के बहुत-से लोगों से सुपरिचित हो गये थे। दुर्भाग्यवश हम उनमें से कुछ के ही नाम तथा उनसे जुड़ी घटनाओं से परिचित हैं।

अलवर में स्वामीजी के सम्पर्क में आये लोगों में से निम्नलिखित लोगों के नाम हमें विदित है – महाराजा मंगलसिंह, दीवान बहादुर मेजर रामचन्द्र, डॉ. गुरुचरण लश्कर, लाला गोविन्द सहाय तथा उनके भाई, दूसरे गोविन्द सहाय, पं. शम्भूनाथ, हरबक्स, मौलवी साहब, दो अंग्रेज कमाण्डर, रामसनेही, एक वृद्धा।

वहाँ से विदा होने के बाद स्वामीजी द्वारा लिखित लाला गोविन्द सहाय के नाम १८९१ तथा १८९४ में जो ५ पत्र लिखे थे, वे भी आंशिक रूप से ही प्रकाशित हैं। और उनमें से अधिकांश का मूल नष्ट हो चुका है। बाद में स्वामी अखण्डानन्दजी ने भी खेतड़ी में रहते समय अमेरिका में स्थित स्वामीजी से पत्र-व्यवहार किया, पर उनमें भी उल्लिखित नामों का प्रकाशन नहीं हुआ है। इन नामों के प्रकाशन न होने का कारण यह है कि उस समय उनमें से अनेक लोग जीवित थे और जीवित लोगों के नाम तथा उनके बारे में कोई व्यक्तिगत सूचना का प्रकाशन उचित नहीं समझा जाता था। तथापि जिनका उल्लेख मिलता है, उनमें से कुछ के विषय में, यथा राजा मंगलसिंह जी के बारे में जानकारी हम पहले दे आये हैं, कुछ के बारे में जानकारी उपलब्ध ही नहीं है, यथा पण्डित शम्भुनाथ जी; और बाकी के विषय में उपलब्ध सूचनाएँ हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं –

लाला गोविन्द सहाय विजयवर्गीय

लाला गोविन्द सहाय (१८६६-१९२५) आगरा कॉलेज से एफ.ए. की शिक्षा प्राप्त करने के बाद अलवर राज्य के मंगलांसर रेजीमेंट में हेड-क्लर्क थे। कहते हैं कि स्वामीजी अपने अलवर-प्रवास के दौरान प्रतिदिन (सायंकाल) अपने अनुरागी युवकों के साथ कम्पनी-बाग (अब पुरजन-विहार) नामक उद्यान में टहलने जाया करते थे। वहीं गोविन्द सहाय ने स्वामीजी का दर्शन तथा उनसे परिचय किया। उन्होंने स्वामीजी को अपने घर आने का आमंत्रण भी दिया। स्वामीजी के किसी-किसी पत्र से उनके भाइयों आदि सहित पूरे परिवार के साथ उनके प्रगाढ़ परिचय का संकेत मिलता है। सम्भव है वे उनके यहाँ कई बार भोजन ग्रहण करने गये हों, पर किसी भी पुराने लेख या ग्रन्थ में उनके घर में स्वामीजी के ठहरने का उल्लेख नहीं मिलता।

अलवर में लाला गोविन्द सहाय का मकान वर्तमान में विवेकानन्द चौक के पास मालाखेड़ा गेट के पीछे, अशोक टॉकीज के पास खटिक पाड़ी की गली में स्थित है। स्वामीजी की जीवनियों में यद्यपि लाला गोविन्द सहाय का कोई उल्लेख नहीं दीख पड़ता, तथापि लगता है कि स्वामीजी के अलवर-प्रवास के दिनों में उनके बीच विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध जुड़ा था और वे मंत्रदीक्षा लेकर स्वामीजी के शिष्य भी हुए थे।

उनके अलवर से विदा हो जाने के बाद भी गोविन्द सहाय ने उनके साथ पत्र-व्यवहार द्वारा सम्बन्ध जोड़े रखा था। उन्हें लिखे हुए स्वामीजी के कुल ५ पत्रों के अंश स्वामीजी की ग्रन्थावली में मिलते हैं – एक अजमेर से, दो माउण्ट आबू से और दो शिकागो से। उन सभी को हम उद्धृत कर रहे हैं –

(पहला पत्र)

अजमेर, १४ अप्रैल, १८९१

प्रिय गोविन्द सहाय,

... पवित्र और नि:स्वार्थ बनने की चेष्टा करो – सारा धर्म इसी में निहित है। ...

सस्नेह,

विवेकानन्द

(दूसरा पत्र)

आबू पहाड़, ३० अप्रैल १८९१

प्रिय गोविन्द सहाय,

आशा करता हूँ, अलवर में तुम लोग स्वस्थ हो। यह आबू स्थान अतीव सुन्दर है, पर यहाँ का पीने का पानी बड़ा खराब है। मैं यहाँ Vaccination officer (टीका अधिकारी) के प्रमुख लिपिक श्रीयुत मुरारीलाल के घर में हूँ। ये तुम्हारे ***डॉक्टर बाबू*** *के एक विशेष मित्र हैं और इसी कारण इन्होंने*

मुझे बड़े यत्नपूर्वक रखा है। डॉक्टर बाबू को यह बात बताना और उन्हें मेरा सहस्रों सम्भाषण तथा आशीर्वाद देना। तुम्हारे डॉक्टर बाबू सचमुच ही एक उत्कृष्ट सज्जन व्यक्ति हैं।[१]

क्या तुम लोग उस ब्राह्मण बालक का उपनयन करा चुके? क्या तुम संस्कृत पढ़ रहे हो? कितनी प्रगति हुई है? आशा है इतने दिनों में पहला भाग तो अवश्य ही पूरा हो गया होगा। ***तुम्हारे दोनों भाई** कैसे हैं?* नियमित रूप से शिवपूजा कर रहे हो न? यदि नहीं, तो करने का प्रयास करो। 'पहले तुम लोग भगवान के राज्य का अन्वेषण करो, बाकी जो कुछ आवश्यक है, सब स्वयं ही आ जाएगा।' पहले ईश्वर-प्राप्ति का प्रयास करो, फिर धन-मान आदि सब प्राप्त होगा। ... **दोनों कमाण्डर साहबों** को मेरा हार्दिक नमस्कार कहना; उच्च पदाधिकारी होकर भी उन्होंने मुझ जैसे गरीब फकीर के साथ अत्यन्त सहृदय व्यवहार किया।

बच्चो, धर्म का रहस्य सिद्धान्तों में नहीं, बल्कि उसकी साधना में निहित होता है। **भले बनना और भले कार्य करना – इसी में पूरे धर्म का रहस्य है।** 'जो केवल "हे प्रभु, हे प्रभु" की रट लगाता है, वह नहीं, बल्कि जो परम पिता की इच्छानुसार कार्य करता है – वही सच्चा धार्मिक है।'

अलवरवासी युवको, तुम जितने भी हो, अच्छे हो, और मैं आशा करता हूँ कि शीघ्र ही तुममें से कई अपने समाज के आभूषण और जन्मभूमि के लिए वरदान सिद्ध होगे। ...

सस्नेह,

विवेकानन्द

पुनश्च – यदि कभी-कभी तुम्हें संसार के थोड़े-बहुत धक्के भी खाने पड़े, तो उससे विचलित न होना, मुहूर्त भर में वह दूर हो जाएगा और सब कुछ फिर ठीक हो जाएगा।

(तीसरा पत्र)

आबू पहाड़, १८९१

प्रिय गोविन्द सहाय,

मन की गति चाहे जिस भी दिशा में हो, तुम नियमित रूप से जप करते रहना। **हरबक्स** से कहना कि पहले बायीं नासिका, उसके बाद दायीं और फिर बाँयीं नासिका – इस क्रम से वह प्राणायाम करता रहे। विशेष परिश्रम के साथ संस्कृत का अध्ययन करो।

सस्नेह,

विवेकानन्द

यहाँ प्रस्तुत हैं उनके शिकागो से लिखे दो पत्र। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें लिखे गये लगभग सभी पत्र अब तक नष्ट हो चुके हैं। केवल एक पत्र की ही मूल प्रति अब भी श्री गोविन्द सहाय के पौत्र श्री राजाराम मोहन गुप्ता के पास सुरक्षित रखी है। जहाँ तक हमें ज्ञात है, यह पत्र अभी तक कहीं भी सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं हुआ है, अतः हम इसे यहाँ उद्धृत करते हैं, इसका इटैलिक्स अंश अब तक स्वामीजी की ग्रन्थावली में अप्रकाशित है –

(चौथा पत्र)

द्वारा जी. डब्ल्यू. हेल,
शिकागो, संयुक्त राज्य अमेरिका
१८९४

प्रिय गोविन्द सहाय,

एक साल से अधिक काल पूर्व खेतड़ी में अन्तिम बार मुझे तुम्हारा समाचार मिला था। वत्स, मैं आशा करता हूँ कि इस दौरान तुम और तुम्हारे भाई – गंगा सहाय तथा दुर्गा सहाय कुशल-मंगल से होंगे।

कलकत्ते के मेरे गुरुभाइयों के साथ तुम्हारा पत्र-व्यवहार होता है या नहीं? क्या तुम्हारी नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से और जागतिक विषयों में उन्नति हो रही है? *राज-पुरोहित गोविन्द सहाय का क्या हाल-चाल है? अलवर के मेरे सभी मित्रों को मेरा स्नेह तथा आशीर्वाद देना। मैं सर्वदा उन्हें आशीर्वाद देता हूँ, कभी भूलता नहीं।*

अलवर तथा वहाँ के हमारे सभी मित्रों के बारे में मुझे सब कुछ लिखो।

तुमने सम्भवतः सुना होगा कि किस प्रकार मैं एक वर्ष से भी अधिक समय से अमेरिका में हिन्दू-धर्म का प्रचार कर रहा हूँ। मैं यहाँ सकुशल हूँ। जितनी जल्दी और जितनी बार चाहो, तुम मुझे पत्र लिख सकते हो।

सस्नेह,

विवेकानन्द

(Exact copy of the letter, partly printed in CW 6.281-2)

Dear Govind Sahay

The last I heard of you was more than a year ago in Khetri. Well my son hope you have been doing well all this time and your brothers Ganga Sahay & Durga Sahay.

Do you keep any corresopondence with my Gurubhais of Calcutta?

Are you progressing morally, spiritually and in your worldly affairs? *What about Govind Sahay the*

१. इस पत्र का इटैलिक्स किया गया पहला पैरा स्वामीजी की ग्रन्थावली में प्राप्त नहीं है। पर सौभाग्यवश श्री श्रमणक लिखित 'अलवरे स्वामी विवेकानन्द' शीर्षक बँगला लेख में यह अंश उद्धृत हुआ है। (देखिये – विश्वपथिक विवेकानन्द, पृ. १५२-५३)

* राजस्थान में स्वामी विवेकानन्द, पं. झाबरमल्ल शर्मा, भाग २, पृ. १८७ पर इसकी फोटो कॉपी छपी है। हिन्दी विवेकानन्द साहित्य, भाग ४, पृष्ठ ३५०-५१, अंग्रेजी ग्रन्थावली, भाग ६ पृ. २८१-८२ में आंशिक प्रकाशित। यहाँ अप्रकाशित अंश इटैलिक्स में दिये हैं।

raj purohit? Give my love & blessing to all my friends in Alwar. I always bless them & never forget them.

Write to me all about Alwar and our friends there. Perhaps you have heard how more than a year I have been preaching Hindu religion in America. I am doing very well here. Write to me as soon as you can and as often as you can.

Yours with blessings
Vivekananda
c/o G. W. Hale, Chicago, United States of America

(पाँचवाँ पत्र)

संयुक्त राज्य अमेरिका,
१८९४

प्रिय गोविन्द सहाय,

... ईमानदारी ही श्रेष्ठ नीति है और भलाई करनेवाला ही अन्ततः लाभ में रहता है। ... वत्स, सदा यह बात याद रखना कि चाहे मैं जितना भी व्यस्त क्यों न रहूँ, जितने भी दूर या कितने भी उच्च वर्ग के लोगों के साथ क्यों न रहूँ, तथापि मैं अपने प्रत्येक मित्र – चाहे उनमें से कोई कितनी ही साधारण स्थिति का क्यों न हों – के लिए भी सदैव प्रार्थना करता रहता हूँ, आशीर्वाद देता रहता हूँ और स्मरण करता रहता हूँ।

आशीर्वादक,
विवेकानन्द

अगले वर्ष स्वामीजी ने लन्दन से, १३ नवम्बर १८९५ को खेतड़ी में निवास कर रहे अपने गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द को लिखा – "राजपूताने में एक केन्द्र खोलने का विशेष प्रयत्न करना। जयपुर या अजमेर जैसी किसी सदर जगह में वह होना चाहिए। इसके बाद **अलवर**, खेतड़ी आदि शहरों में उसके शाखा-केन्द्र स्थापित करना। ... **अलवर** में मेरे कई चेले हैं, उनकी खबर रखना।" इस प्रसंग में स्वामी अखण्डानन्द जी अपनी बँगला 'स्मृतिकथा' (पृ.१२५) में लिखते हैं, "अलवर में स्वामीजी के जो भक्त-शिष्य थे, स्वामीजी ने मुझे उन लोगों की एक समिति बनाने को लिखा था। उसी उद्देश्य से मैं ८-१० दिन स्वामीजी के शिष्य गोविन्द सहाय जी के घर पर ठहरा था। वहाँ एक साप्ताहिक सभा आरम्भ करने के बाद मैंने दिल्ली की यात्रा की।"

इससे सिद्ध होता है कि अखण्डानन्द जी ने उनके मकान में निवास किया था, परन्तु स्वामीजी द्वारा उनके घर में कभी निवास करने का उल्लेख नहीं मिलता। निमंत्रण पाकर भोजन आदि करने यदा-कदा उनके घर अवश्य गये होंगे।

राम शास्त्री का लेख

अलवर-निवासी श्री राम शास्त्री द्वारा 'मत्स्यपुरी में स्वामी विवेकानन्द' शीर्षक लेख दिल्ली की 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' पत्रिका के १० सितम्बर १९८९ के अंक में प्रकाशित हुआ है। वे बताते हैं कि महाभारत काल की मत्स्यपुरी ही आज की अलवर नगरी है। उनके शोधपरक लेख में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण बातें हैं – डॉक्टर लश्कर ने स्वामीजी को जिस कमरे में ठहराया था, उसमें चलनेवाली स्वामीजी की धर्मचर्चा सुबह से दोपहर तक चलती रहती। यह सिलसिला अभी कुछ दिन ही चला था कि कमरा छोटा पड़ने लगा। डॉक्टर, मौलवी और मंगलांसर रेजीमेंट के लाला गोविन्द सहाय इस समस्या सुलझाने को आगे आये। मिले-जुले आग्रह पर स्वामी विवेकानन्द लाला गोविन्द सहाय के घर चले गये। वहाँ उनकी दिनचर्या बड़े सबेरे शुरू होती। लगभग नौ बजे उनका और आगन्तुकों के बीच जीवन तथा अध्यात्म पर चर्चा आरम्भ होती। बिजली की गति से स्वामीजी आये लोगों के सवालों का सहज उत्तर देते। ... शाम को ईंजीनियर साहब तथा दूसरों के साथ बातचीत करते टहलने जाते। रात को फिर से धर्मचर्चा होती।

एक अन्य समाचार-पत्र 'राजस्थान पत्रिका' के १२ जनवरी २००४ के अंक में प्रकाशित 'युवा संन्यासी का पड़ाव' लेख में श्री गोविन्द सहाय के पौत्र श्री राजाराम मोहन गुप्ता के वक्तव्य के आधार पर बताया गया है कि उनके दादा और स्वामीजी की भेंट तत्कालीन कम्पनी बाग (वर्तमान पुरजन विहार) में हुई और उनकी घनिष्ठता इतनी बढ़ी कि स्वामीजी १८९१ और १८९७ में दोनों बार कुल मिलाकर सर्वाधिक दस दिन उन्हीं के घर में ठहरे। इस तथ्य का किसी भी अन्य स्रोत से सत्यापन नहीं होता, अतः इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

हरबक्स फौजदार

माउण्ट आबू से स्वामीजी ने गोविन्द सहाय को अपने दूसरे पत्र में हरबक्स के लिए भी प्राणायाम सम्बन्धी कुछ निर्देश लिखे हैं। वे उन दिनों अलवर के जेल-अधीक्षक तथा हाकिम जागीर थे। उनके नाम पर बसे हुए हरबक्स-मुहल्ले में दीवान रामचन्द्र की वह पुरानी हवेली स्थित है, जिसमें स्वामीजी की मंगलसिंह से भेंट करायी गयी थी।

अन्य परिचित

'राजस्थान पत्रिका' के पूर्वोक्त लेख तथा एक अन्य समाचार-पत्र में प्रकाशित श्री अनुराग विजयवर्गीय के एक लेख के अनुसार स्वामीजी पंसारी बाजार के किसी **मोहन भोला** के मकान में भी रहे थे। सम्भवतः यह वही मकान था, जिसमें डॉ. गुरुचरन लश्कर ने उन्हें ठहराया था। डॉ. गुरुचरन लश्कर के बारे में बाद में कोई जानकारी नहीं मिलती। आबू से अपने पत्र में स्वामीजी ने दोनों **कमाण्डर-साहबों** का उल्लेख किया है – शायद ये अंग्रेज रहे होंगे।

अलवर के परवर्ती राजा जयसिंह

स्वामी विवेकानन्द जी द्वारा हिमालय में स्थापित मायावती के 'अद्वैत आश्रम' ने १९२२ ई. में एक हिन्दी मासिक 'समन्वय' का प्रकाशन आरम्भ किया। दो वर्ष बाद आश्रम के संचालकों ने एक युवा संन्यासी स्वामी निखिलानन्द जी को उसके प्रचारार्थ तथा सहायतार्थ अर्थ-संग्रह हेतु भारत के विभिन्न अंचलों में भेजा। इसी यात्रा के दौरान वे १९२४ ई. में अलवर भी पहुँचे। उसी मासिक 'समन्वय' के मार्च अंक (पृ. १३८-१४०) में निम्नलिखित सूचना प्रकाशित हुई है –

विविध विषय

स्वामी निखिलानन्दजी का सफर

मायावती अद्वैत आश्रम की ओर से स्वामी निखिलानन्दजी के सफर की बात समन्वय के पाठक पहले ही जान गये। ग्वालियर, धौलपुर और आगरा होते हुए स्वामीजी अलवर पधारे। श्रीमान महाराज ने उनका यथोचित स्वागत किया। समन्वय के प्रचारार्थ २०००/- रुपये का दान भी देकर महाराज ने अपने उदार हृदय का परिचय दिया है। इस सहायता के लिए अद्वैत आश्रम के अध्यक्ष आपके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। गुणग्राही महाराज के पत्र का निम्नलिखित अनुवाद समन्वय के पाठकों का अवश्य ही मनोरंजन करेगा –

सेवा में —
स्वामी निखिलानन्दजी
रामकृष्ण मिशन (बन्सुर कैम्प)।
अलवर राजपुताना, कैम्प बन्सुर।
फरवरी, २४

पूज्यवर स्वामीजी,
मेरा प्रणाम।

जिस उद्देश्य से आप मेरे प्रान्त में पधारे हैं उससे मेरी सच्ची अनुभूति है। वह उद्देश्य केवल महान् ही नहीं बल्कि सभी भारत-प्रेमियों की हार्दिक सहायता उसमें होनी चाहिये।

मैं समझता हूँ कि आपका उद्देश एक हिन्दी पत्र के प्रचारार्थ सहायता प्राप्त करना है, जिसमें आप स्वामी विवेकानन्द जी के अपूर्व ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करना चाहते हैं। महानुभाव स्वामीजी पर मुझे कितनी श्रद्धा है – उनका और उनके उपदेशों का मैं कितना ऋणी हूँ – यह मैं शब्दों से व्यक्त नहीं कर सकता। मुझे अनेक बार यह इच्छा हुई कि उनके और उनके गुरुदेव परमहंस रामकृष्णजी के सारे उपदेश – जिनका अंगरेजी में ऐसा उत्कृष्ट संग्रह किया जा चुका है – अपनी भाषा हिन्दी में जनसाधारण के लिये वैसे ही सुलभ हों, विशेषकर जब कि हिन्दी बड़ी तेजी के साथ भारत की राष्ट्रभाषा होने चली है और मुझे आशा है कि एक दिन वह यह पद प्राप्त कर ही लेगी।

आप उसी उद्देश से आये हुए हैं। इससे मेरी सम्पूर्ण सहानुभूति है, यह कहने का ही प्रयोजन नहीं। मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि आप को राजपुताने तथा और रियासतों में भेजकर रामकृष्ण मिशन की उद्देश्य-पूर्ति में सहायता करूँ। स्वामी विवेकानन्दजी के प्रति अपनी कृतज्ञता के निदर्शन स्वरूप मैं आपको यह दो हजार रुपये की छोटी-सी रकम भेज रहा हूँ। मुझे आशा है कि आप मेरे प्रान्त भर में विशेष सहायता प्राप्त करेंगे।

जिस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये आप निकले हुए हैं, यदि मेरे इस पत्र से उसमें कुछ भी सहायता मिले तो आप इसका पूरा उपयोग कर सकते हैं। यदि मेरे सहृदय मित्रों में से कोई महोदय इसे पढ़कर आप की मदद कर सकें तो मैं अपनी ओर से उनका आभारी रहूँगा।

आपके महाकार्य में हाथ बँटाने वाला
सच्चा शुभाकांक्षी
(स्वाक्षर) जयसिंह।

स्वामीजी की शिष्य-स्थानीय मित्र मिस जोसेफीन मैक्लाउड भी अलवर के महाराजा जयसिंह से भलीभाँति परिचित थीं। मैक्लाउड अपने ९ दिसम्बर १९२४ के एक पत्र में लिखती हैं – "आज मैंने फिर एक पत्र लिखकर अलवर के महाराजा को स्वामीजी के जन्मदिवस उत्सव के लिए १७ जनवरी को (मठ में आने के लिए) निमंत्रण भेजा है। जिन युवा स्वामी निखिलानन्द से वे भलीभाँति परिचित हैं और जिन्हें उन्होंने स्वामीजी के ग्रन्थों को हिन्दी में प्रकाशित करने के लिए २००० रुपये दिये हैं, वे इस समय यहीं हैं। कितना मधुर और तेजस्वी स्वभाव है उनका! लगता है कि अलवर के महाराजा माउण्ट आबू में एक बड़ा महल बनवा रहे हैं और इसके लिये जमीन खरीदने में ही उन्होंने लाखों रुपये खर्च कर दिये हैं। मैं उनसे परिचित होने के लिए बड़ी उत्सुक हूँ, क्योंकि लगता है कि उनमें स्वामीजी की अग्नि प्रज्वलित हो चुकी है। उन्हीं के पिता ने तो स्वामीजी से पूछा था, 'इन सारी मूर्तियों और प्रतिमाओं की क्या जरूरत?' और स्वामीजी ने उनके दीवान की ओर उन्मुख होकर कहा था, 'महाराजा का वह चित्र उतारकर नीचे रखो और उस पर थूको।' दीवान ने कहा, 'महाराज की उपस्थिति में भला मैं ऐसा कैसे कर सकता हूँ? स्वामीजी के बारम्बार अनुरोध करने पर दीवान ने बारम्बार इन्कार किया। तो स्वामीजी बोले, 'यह तो महाराजा नहीं हैं, यह तो केवल उनका चित्र मात्र है, वे स्वयं नहीं हैं।' तब महाराजा ने समझ लिया था कि मूर्ति इसलिए पूज्य है कि वह ईश्वर का स्मरण कराती है।"* ❖ (क्रमशः) ❖

(अगले अंक में स्वामीजी के परिव्राजक-जीवन के प्रथम फोटोग्राफ और उनका जयपुर-प्रवास)

* Tantine The Life of Josephine Macleod, by Pravrajika Prabudhaprana, Ed. 1990, P. 195, Sri Sarda Math, Calcutta.

जन्म और मृत्यु : एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण

डॉ. ए. पी. राव

(लेखक नेपाल के एवरेस्ट ईंजीनियरिंग कॉलेज, काठमाण्डू तथा पोखरा विश्वविद्यालय के पूर्व-प्राचार्य और सम्प्रति एल.एन.सी.टी. भोपाल में भौतिकी के विभागाध्यक्ष हैं। डॉ. सीमा मोहरिर, पी.एच.डी ने इस लेख का अंग्रेजी भाषा से हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

पृथ्वी पर मानव-सभ्यता के उदय के समय से ही जन्म और मृत्यु ऐसे विषय रहे हैं, जिन पर सर्वाधिक चर्चा होती रही है और जो आज भी हमारी पहुँच के बाहर प्रतीत होते हैं। आज का विज्ञान जन्म के बारे में अनेक खोजें कर चुका है। कुछ काल पूर्व तक हृदय की धड़कन बन्द हो जाने को 'मृत्यु' कहा जाता था, जबकि अब मस्तिष्क की मृत्यु को व्यक्ति की 'मृत्यु' माना जाता है। वैज्ञानिकों का कहना है कि माता के गर्भ में बालक का जो विकास नौ महीने में सम्पन्न होता है, उसे प्रयोगशाला में करने पर हजार वर्ष का समय लगेगा। क्या इसका यह अर्थ नहीं है कि विज्ञान ने समय के 'कंडेंसेशन' के जिस सिद्धान्त की अभी-अभी खोज की है, प्रकृति बहुत पहले से ही उसका उपयोग करती आयी है?

मृत्यु के विषय में भी विज्ञान की धारणा अभी काफी सीमित जान पड़ती है। वैज्ञानिकों ने मृत्यु के साथ भी कुछ प्रयोग किये हैं। एक मरणासन्न चूहे को काँच के एक बन्द बर्तन में रखा गया। चूहे की मृत्यु के बाद उस बर्तन में दरार पड़ी पायी गई और एक ज्योति-पुंज को बाहर निकालकर परिवेश में विलीन होते हुए देखा गया। मनुष्य के शरीर में कोई ज्योति या शक्ति का पुंज ही है, जो उसे जिन्दा रखता है। धर्मशास्त्रों में शायद इसी को आत्मा कहा गया है। अर्थात् पदार्थ (शरीर) + ऊर्जा (प्राण) + चेतना (आत्मा) के संयोग को ही जीवित मनुष्य की संज्ञा दी जाती है।

मानव-सभ्यता का विकास एक जीव-वैज्ञानिक उन्नति का परिणाम है। इसी के आधार पर डार्विन के सिद्धान्त को वैज्ञानिक मान्यता दी गई है। विज्ञान की एक खोज के अनुसार शरीर की अनेक कोशिकाओं की आयु पाँच सौ साल तक बढ़ाई जा सकती है। प्रयोग पूर्णत: सफल होने पर शरीर की मृत्यु को पाँच सौ साल आगे तक खिसकाया जा सकेगा। धार्मिक मान्यताओं के अनुसार जन्म के समय ही ईश्वर व्यक्ति की मृत्यु का समय तथा स्थान निश्चित कर देता है। परन्तु ऐसी बातें अवैज्ञानिक जान पड़ती हैं, क्योंकि वैज्ञानिक विधियों का उपयोग कर पदार्थ अर्थात् शरीर की आयु बढ़ाई जा सकती है। आत्मा शायद तब तक शरीर में निवास कर सकती है, जब तक कि वह मशीन अर्थात् शरीर उसे अपने अन्दर रखने में सक्षम रहे। ऐसा होने पर हमारा जीवन-काल बढ़ जायेगा। अब हम विज्ञान को एक तरफ रखकर प्रश्न कर सकते हैं कि जीवन-काल को बढ़ाने की ही भला क्या जरूरत? क्या और भी अधिक पैसा कमाने और जमा करने के लिए? राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए? परन्तु उसके बाद क्या होगा? अन्तत: हमें क्या मिलेगा?

इसी मोड़ पर पहुँचकर हम दर्शन और धर्म-शास्त्रों की चर्चा करते हैं। हम कहते हैं आत्म-जागृति ही मानव-जीवन का विशेष उद्देश्य है। संसार में चीजें जैसी दिखती हैं, जरूरी नहीं कि वे वैसी ही हों। ऐसा भी नहीं कि जिसे हम देख नहीं सकते, उसका अस्तित्व ही न हो। संसार में घटित होनेवाली घटनाएँ हम टुकड़ों-टुकड़ों में देखते हैं। उनको एक साथ देखना और उनमें अन्तर्निहीत सम्बन्धों को जान पाना हमारी क्षमता पर निर्भर है। शब्दों और दिख सकने वाली क्रियाओं के परे भी सत्य है, उसी प्रकार जैसे नृत्य और नर्तक को भिन्न-भिन्न करके नहीं देखा जा सकता, परन्तु नर्तक के हट जाने पर नृत्य नहीं रह पाता। और दोनों एक भी नहीं हैं। पुराने समय में ये बातें अवैज्ञानिक कही जाती थीं, पर आज विज्ञान भी कहता है कि कुछ बातें, सिद्धान्त या धारणा के तौर पर हैं, सही हैं और काम भी करते हैं, परन्तु भौतिक रूप से नहीं। 'क्वांटा', 'वेव-फंक्शन', 'एरिस्टोरल, 'पोंटेंशिया' – ऐसी धारणाएँ हैं, जो वस्तुत: हैं भी, परन्तु केवल महसूस किये जा सकते हैं। हम देखते हैं कि 'नवीन विज्ञान' की धारणाएँ, आत्म-जागृति की पुरातन आध्यात्मिक धारणाओं तथा विधियों से मेल खाती हैं, जिसमें शब्द से कहीं अधिक अनुभूति का महत्त्व होता है, वस्तु से अधिक भाव या विचार का महत्त्व होता है।

शायद भविष्य में ऐसा समय आयेगा, जब विज्ञान परा-विज्ञान से होकर यात्रा करते हुए दर्शन और धर्म को स्पर्श करेगा। तब शायद हम जन्म और मृत्यु की पूर्ण वैज्ञानिक व्याख्या कर सकेंगे। ❑❑❑

> **दुनिया में धन बहुत कमाये,**
> **हमने हीरे-मोती।**
> **पर इससे क्या लाभ, कफन में**
> **जेब कहीं ना होती।।**
> ***– सरजू साहू***

स्वामी विवेकानन्द जी के जन्मस्थान पर स्मारक का उद्घाटन

कोलकाता में स्वामी विवेकानन्द जी के जन्म स्थान एवं पैतृकगृह के पावन स्थल पर 'रामकृष्ण मिशन स्वामी विवेकानन्द पैतृकगृह एवं सांस्कृतिक केन्द्र' का भव्य उद्घाटन २६ सितम्बर, २००४ को रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के महाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज के कर-कमलों द्वारा सुसम्पन्न हुआ। इस समारोह में ५०० संन्यासी-ब्रह्मचारी और लगभग १ लाख भक्तों ने भाग लिया तथा स्वामीजी के पुण्य जन्म-स्थल का दर्शन कर कृतार्थता का बोध किया। दूरदर्शन ने कोलकाता चैनल पर इसका प्रसारण भी किया। २७ सितम्बर , २००४ को साधु-निवास का उद्घाटन रामकृष्ण मठ/मिशन के महासचिव श्रीमत् स्वामी स्मरणानन्द जी महाराज ने किया।

१ अक्तूबर, २००४ को इसी भवन के निकटस्थ भूभाग पर निर्मित एक बहुमंजिली सांस्कृतिक भवन का उद्घाटन भारत के राष्ट्रपति महामहिम डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम ने किया और एक बड़ा ही प्रेरणाप्रद व्याख्यान दिया। १२ जनवरी, २००५ को भारत के प्रधानमन्त्री श्री मनमोहन सिंह ने भी स्वामीजी के पवित्र जन्म-स्थान का परिदर्शन कर आनन्द प्राप्त किया।

यह सांस्कृतिक केन्द्र रामकृष्ण मिशन का एक महत्वपूर्ण शाखा केन्द्र के रूप में पूरे विश्व में विख्यात होगा। इसमें विभिन्न प्रकल्प होंगे, यथा – (१) विवेकानन्द शोध केन्द्र, (२) पाठ्य पुस्तक ग्रन्थालय तथा सभागृह और (३) ग्रामीण तथा बस्ती विकास केन्द्र आदि।

डॉ. विद्यानिवास मिश्र

हिन्दी और संस्कृत-साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् श्री विद्यानिवास मिश्र का जन्म १९२६ ई. में गोरखपुर जिले के पकड़डीहा गाँव में हुआ था। देश-विदेश के अनेक विश्वविद्यालयों में विजिटिंग प्रोफेसर रहे डॉ. मिश्र साहित्य-अकादमी, कालिदास-अकादेमी, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, भारतीय ज्ञानपीठ सहित अनेक संस्थाओं से सम्बद्ध रहे। ये वाराणसी के काशी विद्यापीठ और सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति रहे तथा 'नवभारत टाइम्स' समाचार-पत्र के प्रधान सम्पादक रहे। इसके अलावा ये 'साहित्य अमृत' मासिक पत्रिका के सम्पादक भी थे। पद्मभूषण की उपाधि से अलंकृत विद्यानिवास मिश्र की हिन्दी और अंग्रेजी में दो दर्जन से ज्यादा पुस्तकें प्रकाशित हैं, जिनमें 'माडर्न हिन्दी पोएट्री', 'पोयेटिक ट्रेडीशन', 'महाभारत का काव्यार्थ' और 'भारतीय भाषा-दर्शन की पीठिका' आदि प्रमुख हैं। ललित-निबन्ध विधा में उनका अपूर्व योगदान रहा। 'भ्रमरानन्द के पत्र', 'तुम चन्दन हम पानी', 'बसन्त आ गया पर कोई उत्कण्ठा नहीं' आदि लगभग अठारह निबन्ध संग्रहों के अलावा 'पानी की पुकार' नाम से उनका एक काव्य-संग्रह भी है। मिश्र जी शैली-विज्ञान के भी विशेषज्ञ थे। उनके शोध-ग्रन्थों में 'हिन्दी की शब्द-सम्पदा' उल्लेखनीय हैं। हिन्दी की कई पुस्तकों का सम्पादन भी उन्होंने किया।

विगत १४ फरवरी को गोरखपुर-बनारस मार्ग पर दोहरीघाट के पास एक सड़क दुर्घटना में उनका सहसा निधन हो गया। इससे सारा देश शोकमग्न हो उठा। उपराष्ट्रपति भैरोसिंह शेखावत ने पण्डित विद्यानिवास मिश्र के निधन पर गहरा दुख प्रकट करते हुये अपने शोक सन्देश में कहा - "पण्डित जी प्रकाण्ड विद्वान और मौलिक चिन्तक थे, जिन्होंने अपनी रचनाओं से भारतीय संस्कृति और साहित्य की अभिवृद्धि में उल्लेखनीय योगदान दिया। उन्होंने स्वस्थ पत्रकारिता को नया आयाम दिया और राज्यसभा की कार्यवाही में उनकी सक्रिय भागीदारी रही।" पूर्व प्रधानमन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा - "वे (डॉ. मिश्र) महान साहित्यसेवी और राष्ट्रवादी चिन्तक थे।" पूर्व उप-प्रधानमन्त्री लालकृष्ण आडवाणी ने अपने शोक-सन्देश में कहा कि उनका संस्कृत और हिन्दी भाषा पर उनका समान अधिकार था और उनके साहित्यिक योगदान को हमेशा याद रखा जायेगा।

उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री मुलायम सिंह यादव ने कहा - "उनके साहित्य में अपनी माटी की सुगन्ध और ग्रामीण जीवन की असली तस्वीर मिलती है। हिन्दी भाषा को बढ़ावा देने के लिये वह लगातार प्रयासरत रहे। मध्य प्रदेश के मुख्यमन्त्री बाबूलाल गौर ने कहा कि देश ने एक दार्शनिक साहित्यकार खो दिया। उन्होने कहा कि स्वर्गीय मिश्र जी ने अपने ललित निबन्धों, भारतीय संस्कृति और वेदों-पुराणों के सुबोध विश्लेषण से हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया और दार्शनिक आभा प्रदान की। उनके निधन से समकालीन हिन्दी साहित्य ने सृजनशील व्यक्ति और विद्वान खो दिया।

नागरी-प्रचारिणी सभा के प्रधान सचिव डॉ. पद्माकर पाण्डेय ने डॉ. मिश्र के निधन पर शोक व्यक्त करते हुये कहा - "वे हिन्दी साहित्य और भारतीय संस्कृति के जीते-जागते रत्न थे। वे अपनी रचनाओं के माध्यम से सदैव जीवित रहेंगे।" ❑❑❑